मेघदूत

(पूर्वमेघ)

सम्पादक

डा० संसार चन्द्र, एम० ए०

मोहनदेवपन्त शास्त्री, बी० ए०

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

महाकवि कालिदास विरचित

मेघदूत

(पूर्वमेघ)

—: o :—

सम्पादक

डा० संसार चन्द्र, एम० ए० (संस्कृत और हिन्दी)पीएच. डी.

अध्यक्ष, संस्कृत तथा हिन्दी विभाग,

सनातनधर्म कालिज,

अम्बाला छावनी

तथा

मोहनदेवपन्त शास्त्री, बी० ए०

प्रिन्सिपल

दीवानकृष्णकिशोर सनातनधर्म संस्कृत कालिज,

अम्बाला छावनी

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

प्रकाशक:
सुन्दरलाल जैन
मोतीलाल बनारसीदास
बैंग्लो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली ६।

मुद्रक
शान्तिलाल जैन
श्री जैनेन्द्र प्रेस
जवाहरनगर, दिल्ली-६

मूल्य 22-५० रू०
१९५९

पुस्तक-प्राप्तिस्थाना

१. मोतीलाल बनारसीदास—बैंग्लो रोड, जवाहरनगर, पो.बा. १५८६, दिल्ली-६।
२. मोतीलाल बनारसीदास—नेपालीखपरा, पो. बा. ७५, वाराणसी।
३. मोतीलाल बनारसीदास—पो. बांकीपुर, पटना।

प्राक्कथन

[प्रथम संस्करण]

साहित्यकला–क्षेत्र में कालिदास भारत के प्रतिनिधि कवि हैं, संस्कृत का कोई भी पाठ्यक्रम विना इनकी रचनाओं के सफल नहीं कहा जा सकता और यही कारण है कि भारत के सभी विश्वविद्यालयों ने कालिदास की रचनाओं को अपने-अपने पाठ्यक्रम में पूरा-पूरा प्रातिनिध्य दे रखा है। अंग्रेजों के शासनकाल में शिक्षामाध्यम अंग्रेजी होने से कालिदास के रघुवंश, शाकुन्तल, मेघदूत आदि रचनायें अंग्रेजी में ही आलोचित और अनूदित हुआ करती थीं, किन्तु स्वतन्त्रता मिलते ही अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेने लगी है और प्रायः सभी विश्वविद्यालयों ने अब संस्कृत का माध्यम हिन्दी मान लिया है, किन्तु खेद है कि छात्रों के लिए अंग्रेजी ढंग पर समालोचनात्मक दृष्टि से सम्पादित हिन्दी संस्करण अभी तक प्राप्य नहीं हो सके। इसी अभाव को पूरा करने के लिए हम कालिदास के मेघदूत का यह संस्करण पाठकों के आगे प्रस्तुत कर रहे हैं। मेघदूत जैसी भव्य कृति के लिए जैसे सुसंपादन की आवश्यकता है, उसमें यथासंभव कमी नहीं आने दी। कोई भी संबन्धित विषय जो पाठकों के लिए उपादेय समझा गया है, इस संस्करण में अछूता नहीं रहा। एक विस्तृत भूमिका में कालिदास के जीवनकाल, स्थान, रचनायें— आदि सभी विषयों पर क्या देशी और क्या विदेशी सभी विद्वानों के विचार बतलाकर साथ ही उनका विवेचन भी कर दिया है और कालिदास के सम्बन्ध में किये गये आधुनिकतम अनुसन्धानों से पाठकों को अवगत करा दिया है। इसके अतिरिक्त काव्य, महाकाव्य एवं खण्डकाव्य का भी स्वरूप स्पष्ट करके मेघदूत पर एक स्वतन्त्र निबन्ध भी जोड़ दिया है। श्लोकों की व्याख्या करते हुए प्रत्येक का अन्वय, पदार्थ, हिन्दी अनुवाद और व्याकरण देते हुए अन्त में 'विशेष' स्तम्भ में भूगोल, पाठभेद, व्याख्या भेद—आदि सभी अपेक्षित बातों की आलोचना भी कर दी है। अनुवाद—जैसा कि नियम है–हमने यथा सम्भव शाब्दिक ही रखना उचित समझा। पादटिप्पणी में पाठभेदों का भी निर्देश कर दिया है। ग्रंथ को और भी अधिक उपयोगी बनाने के लिए संस्कृत की सर्वप्रसिद्ध मल्लिनाथ टीका भी दे दी

है। आशा है प्रस्तुत संस्करण, क्या छात्र, क्या विद्वान् और क्या साधारण पाठक सभी के उपयोगी सिद्ध होगा।

संभव है ग्रन्थ में छपाई की कुछ त्रुटियां रह गई हों। प्रूफ पढ़ने का अवसर हमें प्राप्त नहीं हो सका, इसलिए विद्वज्जनों से प्रार्थना है कि छपाई के इस दोष को क्षम्य समझते हुए स्वयं भूल-सुधार करके अनुगृहीत करें।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में श्रीसोमदत्त चोपड़ा एम० ए० (स्वर्णपदक विजेता) ने अपना बहुमूल्य समय व्यय करके हमें पर्याप्त सहायता दी है । उन्होंने कुछ एक मौलिक सुझाव भी दिये हैं। चोपड़ा साहिब के सहयोग से प्रस्तुत कृति को बहुत लाभ हुआ है। अतः हम उनके आभारी हैं।

मोहनदेव पंत, संसारचन्द्र

भूमिका

संस्कृत से परिचित कौन व्यक्ति कालिदास को नहीं जानता। यह संस्कृत साहित्य के सर्व-मूर्धन्य कवि और सुनिपुण नाटककार हैं। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, अद्भुत कल्पना-शक्ति और उत्कृष्ट नाटक-निर्माण-कौशल पर मुग्ध हो कर ही भारतीय जनता ने इन्हें 'कविकुल गुरु' 'कवि-शिरोमणि' आदि उपाधियों से विभूषित किया है। प्राचीनकाल से ही हमारे हृदय में इनके प्रति जो अपार प्रशंसा एवं आदर का भाव है, वह तो प्रत्यक्ष है ही, किन्तु अब तो इनकी कीर्ति दैशिक सीमा को लाँघ कर विश्व के दूसरे छोर तक पहुँच गई है। विदेशवासी भी इनके अद्भुत काव्यामृत का मौलिक अथवा अनूदित रूप में आस्वादन करके आनन्द-विभोर होकर इन्हें विश्वकवि मानने के लिए बाध्य हुए हैं।

जीवन—खेद का विषय है कि हमें अपने महाकवि के जीवन के सम्बन्ध में आज तक भी प्रामाणिक वृत्तान्त प्राप्त नहीं हुआ है। ये कब और कहां उत्पन्न हुए? इनके माता पिता कौन थे? ये कब स्वर्ग सिधारे? इत्यादि प्रश्नों का सन्तोष-प्रद उत्तर देने में हम सर्वथा असमर्थ हैं। कालिदास स्वयं इतने निरभिमानी थे कि इन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में अपनी रचनाओं में कुछ भी नहीं कहा, जिससे हमें इस संबन्ध में कुछ पता चले। इसलिए इनके जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान हमें जनश्रुतियों, बाह्य-साक्ष्यों एवं दूर के स्रोतों से प्राप्त होता है, उसी पर हमें संतुष्ट रहना पड़ता है। वास्तव में कालिदास का जीवनवृत्त अन्धकार से ढका हुआ है और इस सम्बन्ध में हम जो कुछ कहते अथवा सुनते हैं, उस की भित्ति अनुमान ही है।

एक जन-श्रुति के आधार पर कालिदास पहले महामूर्ख थे। किसी तरह इनका विवाह एक राजकन्या विद्योत्तमा के साथ हो गया था, मूर्खता का भेद खुलने पर उसने इन्हें तिरस्कार-पूर्वक घर से निकाल दिया। इन्होंने काली देवी की उपासना की और उसके वरदान के प्रभाव से पीछे ये महाविद्वान् हो गये थे। कहते हैं कि इसी कारण से ही इनका नाम कालिदास पड़ा था। दूसरी जनश्रुति, जो इनके निधन से सम्बन्धित है, के अनुसार ये लङ्का-भूपति कुमारदास के अतिथि

थे। इनकी मृत्यु वहीं पर एक लालची वेश्या के हाथ से हुई थी, परन्तु इन दन्त-कथाओं में बहुत कम विश्वास किया जा सकता है।

एक अन्य जनश्रुति कालिदास को महाराज विक्रमादित्य[१] की सभा के नवरत्नों में गिनती है और यह बहुत कुछ अंश में विश्वसनीय हो सकती है, क्योंकि कालिदास ने भी अपनी कृतियों में कई जगह विक्रम शब्द का साभिप्राय प्रयोग करके प्रशंसा के रूप में अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य की ओर संकेत किया है। इसके अतिरिक्त स्वयं कालिदास के ग्रन्थ ही इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं कि उनका जीवन अवश्य ही किसी राजसभा में व्यतीत हुआ है। ये बड़े सम्पन्न घर के थे। लक्ष्मीदेवी नित्यप्रति उनपर मुस्कराती रहती थी। दरिद्रता के कुटिल कटाक्ष का इन्होंने अपने जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था। ऐसी सम्पन्नता राजाश्रय के विना हो नहीं सकती। इस लिए यह परिणाम निकलता है कि ये अवश्य ही विक्रमादित्य के राजकवि रहे होंगे।

कालिदास जाति के ब्राह्मण थे। शिव के उपासक होते हुए भी ये साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर थे। ये वर्णाश्रमधर्म के पक्षपाती थे। इन्हें वेद-वेदाङ्गों, उपनिषदों, षड् दर्शनों, स्मृति-पुराणों का पूरा-पूरा ज्ञान तो था ही, पर साथ ही आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र, नृत्य, संगीत, मृगया और चित्रकला से भी पर्याप्त परिचय था। इन्होंने देश के प्रायः सभी भागों का विशेषतः उत्तर भारत का खूब भ्रमण किया था। उत्तर में होनेवाला काश्मीर का केशर-पुष्प, हिमालय के देवदारु-वृक्ष और हिम-धवलित चोटियां, कलिंग-देश के नारिकेल-वृक्ष ताम्रपर्णी की मोतियों की सीपियाँ, समुद्र तथा इसी तरह के अन्य कई स्थान एवं पदार्थ इनकी सूक्ष्मदर्शी लेखनी द्वारा बड़े भव्यरूप में चित्रित किये गये हैं। इन सब का इन्होंने ऐसा सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है जो प्रत्यक्ष दर्शन के विना होना बहुत कठिन प्रतीत होता है। यदि इनकी सिंहलद्वीप-वाली दन्त-कथा की सच्चाई में विश्वास किया जाय, तो इनका सिंहलद्वीप जाना भी सिद्ध हो जाता है। इस तरह कालिदास विस्तृत भ्रमण किये हुए, उदार एवं सुपरिष्कृत विचारों वाले निरभिमानी, रसिक तथा आमोदप्रिय व्यक्ति थे। इनके जन्मकाल और जन्मस्थान के सम्बन्ध में हम आगे पृथक् विचार करेंगे।

१—धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

रचनायें—वैसे तो कालिदास के नाम से रचित ग्रन्थों की प्रचलित संख्या दो दर्जन से भी अधिक बतलाई जाती है, किन्तु प्रायः सर्वसम्मति से ७ ही ग्रन्थ कालिदास-रचित माने गये हैं, इनमें दो तो महाकाव्य–(१) कुमारसंभव और (२) रघुवंश ; दो खण्ड काव्य–(१) ऋतु संहार और मेघदूत एवं तीन नाटक, (१) मालविकाग्निमित्र, (२) विक्रमोर्वशीय, (३) अभिज्ञान-शाकुन्तल हैं। इन उपर्युक्त रचनाओं में हमें भाषा तथा शैली की समानता के साथ-साथ सूक्ष्म-पर्यवेक्षण और विचार-धारा की समानता भी मिलती है। वास्तव में इनमें कवि की प्रतिभा और कला का क्रमिक विकास एवं परिपाक स्पष्ट दिखाई देता है। कोई बाह्य साक्ष्य न होने पर भी तुलनात्मक अध्ययन से इन रचनाओं का निर्माण-क्रम यों रखा जा सकता है :–(काव्यों में) ऋतु०, कुमार०, मेघ० और रघु०; (नाटकों में) मालविका०, विक्रमो० और शाकु० अथवा साथ–साथ मिल-जुलकर ऋतु०, मालवि०, कुमार०, विक्रमो०, मेघ०, रघु० और शाकु०।

ऋतुसंहार—६ सर्ग और १४४ पद्यों का गीति-काव्य है, जिस में ग्रीष्म से प्रारम्भ करके क्रमशः षड्–ऋतुओं का अनूठा वर्णन है। सारी रचना में युवक–युवतियों का प्रणय प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य से भव्य-समन्वय और सहानुभूति पाकर खूब किलोलें करता दृष्टि-गोचर होता है। बहुत समय तक कतिपय विद्वान् भाषा, भाव तथा श्रृंगार के नैतिक दृष्टिकोण के अपरिष्कृत होने के कारण इस रचना को कालिदासकृत नहीं मानते थे, किन्तु बाद के अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो गया है कि यह कवि का काव्य-निर्माण की ओर सर्व-प्रथम प्रयास है। इसी कारण इसकी भाषा और भाव परिष्कृत नहीं हैं और उच्च नैतिक स्तर का अभाव भी पद पद पर अखरता है। कीथ और मैकडानल आदि पाश्चात्त्य समालोचकों के अनुसार ऋतुसंहार में दिखलाई देने वाला सूक्ष्म-प्रकृति-वीक्षण, प्रकृति के प्रति गहरी सहानुभूति एवं प्रसाद-गुण की रमणीयता इत्यादि विशेषताएँ इस ग्रन्थ पर कालिदास की कला की अमिट छाप लगाए हुए हैं।

कुमारसम्भव—यह कवि का प्रथम-महाकाव्य है, जिसमें १७ सर्ग हैं और महादेव-पार्वती का विवाह, कुमार (कार्तिकेय) का जन्म तथा उसके हाथों तारकासुर का वध वर्णित है। सारा ग्रन्थ भारतीय गृहस्थ जीवन का एक अनुपम चित्र है। भाषा की दृष्टि से कुछ समालोचकों का कथन है कि इसके आठ सर्ग ही कालिदास-रचित हैं; इसमें महाकाव्य का लक्षण संगत करने तथा काव्य के

कथानक को पूर्ण करने के लिए ही किसी ने पीछे से ९ सर्ग और जोड़ दिये हैं, इसीलिए इसपर मल्लिनाथ की टीका केवल ८ सर्ग तक ही मिलती है ।

मेघदूत—यह खण्ड-काव्य है । इसके सम्बन्ध में विस्तार के साथ हम आगे विचार करेंगे ।

रघुवंश—यह कवि का अन्तिम और सर्व श्रेष्ठ महाकाव्य है । इसके १९ सर्ग हैं और दिलीप से लेकर सभी रघुवंशी राजाओं यथा–रघु, अज, दशरथ, राम, तथा राम के वंशजों का वर्णन है । सारा ग्रन्थ कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा, परिपक्व कला एवं भारतीय संस्कृति का भव्य निदर्शन है ।

मालवि०—यह कालिदास का सर्वप्रथम नाटक है, इसमें ५ अंक हैं और राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कथा वर्णित है ।

विक्रमोर्वशीय—यह ५ अंकों का दूसरा नाटक है जिसमें पुरूरवा तथा उर्वशी अप्सरा के प्रणय का वर्णन है ।

अभिज्ञानशाकु०—यह कालिदास का—कालिदास का ही क्यों, समग्र संस्कृत-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है । इसमें ७ अंक हैं तथा राजा दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय कथा वर्णित है । कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "शकुन्तला के आरम्भ के सौन्दर्य ने मङ्गलमय परिणति से सफलता प्राप्तकर मर्त्य को अमृत के साथ सम्मिलित करा दिया है" सुविख्यात जर्मन कवि गेटे (Goethe) ने भी इस नाटक का अनुवाद पढ़कर आनन्द-मुग्ध हो अपनी रचना 'फाउस्ट' (Faust) में जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनका अनुवाद अंग्रेजी भाषा में सर विलियम जोन्स ने यों किया है—

'Wouldst thou the youug year's blossoms and the fruits of its decline.

And all by which the soul is charmed enraptured, feasted fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself in one. sole name combine ?

I name thee, O Shakuntala. and all at once is said.

इसका म० म० वासुदेव विष्णुकृत रूपान्तर यह है :--

"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥"

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रुतबोध, शृङ्गार-तिलक,शृङ्गाररसाष्टक, सेतुकाव्य, कर्पूरमंजरी, पुष्पबाणविलास, लक्ष्मीस्तव, चर्चास्तव, अम्बास्तव, नवरत्नमाला, रत्नकोश, नलोदय, श्यामलादण्डक, प्रश्नोत्तर माला, ज्योतिर्विदाभरण आदि जो अन्य ग्रन्थ कालिदास-रचित बतलाये जाते हैं, वे कालिदास नाम-धारी किन्हीं अन्य कवियों की रचनायें हो सकती हैं--जिस कालिदास से हमारा सम्बन्ध है, उसकी नहीं, क्योंकि ९०० ई० के आसपास विद्यमान कवि राजशेखर के निम्नलिखित कथन के अनुसार तब तक तीन कालिदास हो चुके थे :-

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥

जन्मकाल—कालिदास का जन्मकाल संस्कृत-साहित्य के इतिहास में बड़ा विवाद-ग्रस्त विषय है और इसपर आलोचक गण अभी तक एक मत नहीं हो सके हैं । काल की अवर सीमा का प्रमाण तो हमारे पास ६२० ई० में वर्तमान बाण कवि है, जिसने अपने हर्षचरित ग्रन्थ में कालिदास की प्रशंसा की है और साथ ही एहोल (Aihole) का शिला-लेख (६३४ ई०) भी प्राप्त हुआ है, जिसमें कालिदास का स्पष्ट नामोल्लेख है । इस आधार पर कालिदास का सातवीं शताब्दी (ई०) या, उससे पीछे होना तो असम्भव है । काल की पूर्ववर्ती सीमा प्रथम शताब्दी (ई० पू०) ठहरती है, क्योंकि कालिदासकृत मालविकाग्निमित्र में वर्णित शुंगवंश-प्रवर्तक अग्निमित्र का काल प्रथम शताब्दी (ई० पू०) है और साथ ही कवि का आश्रयदाता विक्रमादित्य प्रथम शताब्दी (ई०पू०) का है, जिसने ५६ (ई० पू०) अपना विक्रम-संवत् चलाया था । इन दोनों पूर्वापर-सीमाओं के बीच सन्देह दोला में लटकता हुआ कवि का स्थितिकाल भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा अपने अपने विचारानुसार भिन्न-भिन्न ही नियत किया जाता है । काल के विषय पर प्रचलित निम्नलिखित तीन वाद (Theories) हैं--

(१) छठी शताब्दीवाला कहरूर-बाद (the Korur theory)।

(२) पांचवी शताब्दीबाला गुप्तकालीन–वाद अथवा संस्कृत का पुनरुज्जीवनवाद (the theory of Renaissance)।

(३) प्रथम शताब्दी (ई० पू०) वाला वाद।

छठी शताब्दीवाला वाद—फर्गुसन (Fergusson) महोदय का विचार है युद्ध भारतीय इतिहास में एक नया युगान्तर उपस्थित करता है, जिसमें उज्जयिनी के राजा हर्ष बिक्रमादित्य ने म्लेच्छों को पराजित करके, बिजय के उपलक्ष्य में स्मारक-स्वरूप बिक्रम संबत् चलाया और उसे प्राचीनता देने के लिये ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ५७ ई० पू० माना। इस मत की पुष्टि में कवि की रचनाओं में आये हुए यवन, शक, हूण, पह्लव आदि जातियों का नामोल्लेख किया जाता है। हूणों ने ५०० ई० में भारत पर आक्रमण आरम्भ किया था, इस कारण कालिदास का स्थिति काल उसके पश्चात् सिद्ध होता है क्षौर वह छठी शताब्दी ई० है। भारतीयों में के० बी० पाठक भी अभी तक इसी छठी शताब्दीवाले मत के समर्थक हैं।

कुछ समय तक तो यह मत प्रचलित रहा, क्योंकि तब तक प्राचीन अनुसन्धान के आधार पर कोई भी ऐसा शिला-लेख नहीं प्राप्त हुआ था, जो विक्रमसंवत् ६०० से पूर्व का हो, किन्तु हाल ही में मन्दसोर (Mandsor) का शिलालेख मिला है, जिसमें बिक्रम-संवत् ४७३ उल्लिखित है। इसमें वत्सभट्टि–रचित कुछ ऐसे भी पद्य[1] हैं जो कालिदास के ऋतु० और मेघ० के पद्यों का बलात् स्मरण करा देते हैं। इसके अतिरिक्त थर्गुसनबाले मत में 'विक्रमसंवत् ६०० पूर्व ही क्यों माना गया?' इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं है। रघुवश में आये हुए हूण आदि को राजा रघु ने अपनी दिग्विजय में देश की सीमा से बाहर परास्त किया था, न कि उन्होंने भारत पर आक्रमण किया था। अब तो प्रो० आप्टे महोदय के अनुसन्धानों ने यह बात सिद्ध कर दी है कि प्राचीन भारतीय सीमा से बाहर बैक्टरिया से परे तासरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० तक हूणों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा था। इन युक्तियों के आगे फर्गुसन का छठी शताब्दी वाला वाद एकदम धराशायी हो जाता है।

१—चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
वत्सभ०, मेघ० ६६

गुप्तकालीन–वाद—पाश्चात्य-विद्वानों में अधिकतर का विचार है कि गुप्तवंशी राजाओं का शासन-काल भारत के इतिहास में सुवर्ण-युग है। सम्राट् चन्द्रगुप्त[द्वितीय] ने शकों को भारत से बाहर निकालकर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी और अपने से पूर्व प्रचलित माधव-संवत् को विक्रम-संवत् के नाम से चलाया था। 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण करने के उपलक्ष्य में विक्रमोर्वशीय और चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमार गुप्त के जन्म के उपलक्ष्य में कुमारसम्भव की रचना कालिदास-द्वारा की गई प्रतीत होती है। रघुवंश में वर्णित रघु के दिग्विजय में और प्रयाग की हरिषेण कृत प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त [चन्द्रगुप्त II का पिता ३३६–३७५ ई०] के दिग्विजय में बड़ी समानता मिलती है। मालवि० में वर्णित अश्वमेघ समुद्रगुप्त-कृत अश्वमेघ को ही लक्ष्य करता है। गुप्तकालीन लोगों का सम्पन्न तथा आनन्द-प्रमोदमय जीवन मेघ० [३०] के उज्जयिनी-वर्णन में तथा ऋतु० में भलीभाँति प्रतिबिम्बित हुआ मिलता है। विक्रम शब्द की तरह कवि का √गुप् धातु तथा उससे बने गुप्त-आदि शब्दों का पुनः पुनः प्रयोग साभिप्राय है और इसमें अपने आश्रय-दाता गुप्तवंशीय सम्राटों की ओर व्यञ्जना है।

इसके अतिरिक्त प्रो० मैक्डॉनल [Macdonell] का संस्कृत-पुनरुज्जीवन वाद भी कालीदास का गुप्तकालीन होना सिद्ध करता है। मैक्डॉनल के अनुसार वेदों के काल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० तक संस्कृत का उन्नति काल है। तत्पश्चात् मध्यान्तर काल आता है, जिसमें विदेशियों के सतत आक्रमण होते रहने के कारण साहित्य-कला प्रसुप्त रही। छठी शताब्दी में विक्रमादित्य के शासन के साथ संस्कृत का पुनर्जागरण हुआ और कालिदास इसी नये युग के प्रतिनिधि-रूप आदि कलाकार हैं।

इस वाद की पुष्टि में यह भी कहा जाता है कि बौद्धकवि अश्वघोष [७८ ई०] के और कालिदास के काव्यों में कहीं-कहीं बहुत साम्य है। बुद्धचरित [सर्ग ३–१३–१९] में सिद्धार्थ का बाजार में पहलो बार जलूस और रघुवंश [सर्ग ७, ५–१२] में अज का जलूस एक-जैसे हैं; बुद्धच० [सर्ग १३, ६] में मार का सिद्धार्थ पर आक्रमण और कुमार० [सर्ग ३, ६] में काम का शिव पर आक्रमण एक-से ही हैं। बुद्धच० में 'स्तन-तट से गिरे

१–विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना।
ऋजुषट्-पदपङ्क्तिजुष्टपादा जलफेनप्रसहसत्तटा नदीव।

हुए वसनवाली किसी प्रसुप्त स्त्री की फेन से हँसती हुई तटोंवाली नदी से उपमा तथा मेघदू० [६५] में दी हुई उपमा में समानता है। इसी तरह सौन्दरानन्द में 'सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः' (४, ४२) और कुमारसभव में 'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः' (५, ८५) इत्यादि उपमाओं में भी बड़ा साम्य है। बहुत से अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि कालिदास की कला स्व-पूर्ववर्ती अश्वघोष से बहुत प्रभावित है।

उपर्युक्त वाद में सन्देह के बहुत स्थान हैं और इसके विरुद्ध कुछ ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते हैं, जिनका हमें सन्तोष-प्रद उत्तर मिलना चाहिए। सर्व-प्रथम, चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना ही नया संवत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से क्यों चलाया? चन्द्रगुप्त के पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपना जो गुप्त-संवत् चला रक्खा था, उसे ही क्यों न प्रचलित रहने दिया? इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा प्रचलित कहे जाने वाले विक्रम-संवत् का उसके अनन्तर की शताब्दियों में उल्लेख क्यों नहीं आया? चन्द्रगुप्त द्वितीय के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरनार-वाले शिलालेख में विक्रम-संवत् का उल्लेख न आकर गुप्त-संवत् का ही उल्लेख आया है। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय का विक्रम-संवत् चलाने की बात ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी कच्ची प्रतीत होती है। साथ ही एक और बात भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि गुप्तवंशीय सम्राटों में से किसी का भी **नाम** विक्रमादित्य नहीं था—चन्द्रगुप्त द्वितीय की **उपाधि** मात्र थी उपाधि लेने के लिए कोई पूर्ववर्ती विक्रमादित्य-नामक महान् सम्राट् अपेक्षित है जो कि पर-वर्ती राजाओं का अनुकरणीय बने; अतः 'विक्रमादित्य' उपाधि-धारी चन्द्रगुप्त से बहुत पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई महान् सम्राट् हुआ होगा और वही कालिदास का असली आश्रयदाता हो—यह क्यों न माना जाय। 'कुमार' 'गुप्त'-आदि शब्द व्यङ्ग्य अर्थ में न प्रयुक्त होकर अपने ही मुख्य अर्थ में भी तो प्रयुक्त हुए माने जा सकते हैं। इसी तरह रघुवंश के दिग्विजय का सम्बन्ध समुद्रगुप्त के अश्वमेध से न जोड़ कर किसी अन्य सम्राट् के अश्वमेध से भी तो जोड़ा जा सकता है। पुराणग्रन्थों में अनेकों दिग्विजयों का वर्णन आता है। मैक्डॉनल के पुनरुज्जीवन काल से पूर्व का मध्यान्तर-

काल साहित्यिक रचनाओं से बिलकुल शून्य नहीं रहा है जैसा कि डा० पीटरसन (Peterson) और डा०बुहलर (Buhler) ने भी माना है। यदि कालिदास को नव-जागरणयुग का प्रथम कवि मान भी लिया जाय, तो इन्हें मैक्डॉनल द्वारा निर्दिष्टकाल से बहुत पहिले प्रथम शताब्दी (ई० पू०) में मानना पड़ेगा, क्योंकि वही नव-निर्माण-युग था। बाद के अनुसन्धानों ने तो अब मैक्डॉनल का पाँचवीं शताब्दीवाला पुनरुज्जीवन-वाद सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर दिया है अब रही अश्वघोष के स थ साम्यवाली बात। यह तो सिद्ध ही ह कि अश्वघोष एक बौद्ध-दार्शनिक था और बौद्धसिद्धान्तों को जन-साधारण में प्रचार करना चाहता था जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार भी किया है; इसीलिए उसने काव्य-कला का आश्रय लिया था। हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पाली-प्राकृत में लिखा हुआ मिलता है। अश्वघोष का प्राकृत के स्थान में संस्कृत को अपनाने का कारण यही हो सकता है कि उस समय तक संस्कृत का उत्थान हो चुका था और वह एक लोकप्रिय भाषा बन गई थी, अत एव क्यों न कालिदास को ही अश्वघोष का पूर्ववर्ती मान लिया जाय, जिनके काव्य से अश्वघोष ने प्रेरणा ली है? कालिदास—जैसे विशाल प्रतिभावाले विश्व-वन्द्य कलाकार की अपेक्षा काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण एक बौद्ध दार्शनिक का ही कालिदास से प्रेरणा लेना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, अश्वघोष का सम्बन्ध उस समय से है कि जब कि संस्कृत भाषा में कृत्रिमता आने लगी थी और शैली कालिदास की जैसी स्वाभाविक न रह कर कुछ जटिल और प्रयास-साध्य बन रही थी। प्रो० झाला महोदय ने अश्वघोष के निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा यह बात सिद्ध करदी है:—

"शमेऽभिरेमे विरराम पापाद् भेजे दमं संविबभाज साधून्"

(बुद्धच० २, २३)

"नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट

(बुद्धच० २, ३५)

"यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन्न मीयते।
काले निमीयते सीमां न चाकाले प्रमीयते' (सौन्दर० १, १५)

इन श्लोकों में भट्टि जैसे परवर्ती श्रेण्य (Classical) ग्रन्थकारों की गन्ध आ रही है ।

इन तर्कों के आधार पर छठी शताब्दी वाले कहरूर वाद की तरह पाँचवीं शताब्दीवाला गुप्तकालीन वाद भी धराशायी हो जाता है ।

प्रथमशताब्दी (ई० पू०) वाला वाद—भारतीय विद्वान् प्रायः सभी प्रथम शताब्दी (ई० पू०)वाले वाद के समर्थक हैं । कवि के विक्रमादित्य से सम्बन्ध का तो कोई प्रत्याख्यान कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अन्तरङ्ग साक्ष्य से भलीभाँति सिद्ध ही है, किन्तु वे विक्रमादित्य आदि–विक्रमादित्य ही थे, जो मालव देश के परमार-वंशीय राजा थे और जिनकी राजधानी उज्जयिनी थी । प्रथम शताब्दी ई० में वर्तमान गुणाढचकृत 'बृहत् कथा' के रूपान्तर कथा-सरित्सागर में वर्णित विक्रमादित्य वे ही प्रतीत होते हैं । सर्वप्रथम आक्रमण में शकों को उन्होंने ही परास्त किया था और विजय के उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० अपने नाम का विक्रमसंवत् चलाया था । उन्होंने ही म्लेच्छों का ध्वंस करके बौद्ध और जैन धर्मों को हटाकर वर्णाश्रम–धर्म का जीर्णोद्धार किया था । वे शिव के उपासक थे ; उज्जैन में महाकाल शिव का मन्दिर उन्होंने ही बनवाया था । यही कारण है कि कालिदास की रचनाओं में शिव का तथा शिव की उपासना का अधिक उल्लेख है । इसके विपरीत गुप्तवंशीय सम्राट् वैष्णव थे और उनकी राजधानी पाटलीपुत्र थी, न कि उज्जयिनी, अतः उज्जयिनी के महेन्द्रा-दित्य के पुत्र परमार–वंशीय विक्रमादित्य ही आदि–विक्रमादित्य थे–यह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसन्धानों द्वारा सिद्ध हो गया है । कालिदास उन्हीं आदि-विक्रमादित्य के आश्रय में रहे थे । विक्रमोर्वशीय नाटक में 'इन्द्र' के स्थान में सर्वत्र 'महेन्द्र[1]' शब्द देकर कवि ने अपने आश्रयदाता के पिता महेन्द्रादित्य के नाम को भी अमर बनाना चाहा । उज्जयिनी की जनता के समक्ष जब यह नाटक खेला गया होगा, तो जनता को 'विक्रम' और महेन्द्र' शब्दों का पुत्र और पिता की ओर संकेत समझने में कोई कठिनता नहीं

१–"दिष्टचा महेन्द्रोपकारपर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्"
प्रथमं पुत्रदर्शनेन विस्मृतास्मि । इदानी महेन्द्र -मंकीर्तनेन स्मारितः समयो मम हृदयमायासयति"
"रम्भे, उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः"

हुई होगी और यह नाटक सम्भवतः महेन्द्रादित्य के राज्यकार्य से अवकाश-ग्रहण और विक्रमादित्य के यौवराज्याभिषेक के अवसर पर खेला गया होगा। कालिदास का अपने रघुवंश में सूर्यवंशी राजाओं को कथा-नायक बनाने का कारण भी यही हो सकता है कि महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य उस राज-वंश से सम्बन्ध रखते हैं जो आदित्य (सूर्य) से चला हुआ था। रघुवंश में दिलीप और उसके पुत्र रघु का वर्णन तथा कथा-सरित्सागर में आये हुए महेन्द्रादित्य और विक्रमादित्य का वर्णन परस्पर बहुत मिलते-जुलते हैं। इससे कालिदास उन्हीं आदि–विक्रमादित्य के सम–सामयिक प्रतीत होते हैं। मेघदूत में आया हुआ वत्सराज उदयन का संकेत तथा मालविकाग्निमित्र का अन्तरङ्ग साक्ष्य भी कवि को प्रथम–शताब्दी (ई० पू०) की ही ओर खींचते हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० आप्टे महोदय शकुन्तला–नाटक से दो अन्तरङ्ग प्रमाण उद्धृत करते हैं; एक तो शकु० vi[1] में निस्सन्तान श्रेष्ठी धनदत्त की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति का उसकी विधवा को न मिलकर राज्य–अधिकार में चला जाना–इस से यह सिद्ध होता है कि कवि के समय में विधवा का पति की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता था और ऐसा समय ई० पू० ही मिलता है जब कि मनु, आपस्तम्ब और वशिष्ठ स्मृतिकारों की सी तूती बोलती थी, और वृहस्पति, शङ्ख, लिखित तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ नहीं लिखी गई थीं। दूसरा प्रमाण है शकु० (vi[2]) में अँगूठी चुराने के अपराध में वध–दण्ड, जो रत्न चुराये जाने पर विक्रमो०,[3] (v १) में भी आता है यद्यपि चोर वहां पक्षी था। चोरी के लिये कठोर प्राण–दण्ड का विधान मनु और आपस्तम्ब का किया हुआ है, जो उत्तरोत्तर हल्का किया जाता हुआ बाद को बृह–स्पति स्मृति में अर्थ-दण्ड के साथ विकल्प-रूप में (optional) रह गया। इन दो घटनाओं से सिद्ध होता है कि कालिदास अवश्य बृहस्पति के पूर्वतन काल से सम्बन्ध रखते हैं और बृहस्पति को सर्व–सम्मति से प्रथम शताब्दी

१–समुद्र व्यवहारी ········ धनमित्रो नाम ····· विपन्नः अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसञ्चयः।

२–"जानुक, प्रस्फुरतो मम हस्तौ अस्य **वधार्थम्** सुमनसः पिनद्धुम्।"
"नार्हसि भावोऽकारणमारणं भावयितुम्।"

३–"आत्मनो **वधमाहर्त्ता**–" इत्यादि।

(ई०) का माना गया है। चन्द्रहास, 'विक्रमादित्य' के काल के चीनी यात्री फाहियान ने अपनी डायरी में चन्द्रगुप्त II के राज्यकानून सम्बन्धी स्थिति के विषय में लिखा है कि "चन्द्रगुप्तके राज्य में कहीं भी प्राणदण्ड का नियम नहीं है। अपराधियों को अधिकतर जुर्माना ही होता है। इस के अतिरिक्त कालिदास की भाषा और शैली भी मध्ययुगीय दण्डी, बाण, भवभूति आदि की तरह कृत्रिम, समास बहुला और प्रयास—साध्य नहीं है और यह एक ऐसी बात है, जो कालिदास का काल उनसे ६ अथवा ७ शताब्दी पहले रखती है। कालिदास के कुछ अप्रसिद्ध प्रयोग भी, जो पाणिनि–नियमों को तोड़कर किये गये हैं, उस ही काल की ओर संकेत करते हैं। इन सब प्रमाणों और उपपत्तियों से यही सिद्ध होता है कि कालिदास का स्थितिकाल प्रथम शताब्दी (ई० पू०) है। पाश्चात्त्य विद्वानों में डा० पीटरसन (Dr.Peterson) भी इस ही मत के समर्थक हैं।

जन्मस्थान—जन्मकाल की तरह कालिदास के जन्म-स्थान पर भी मत–भेद पाया जाता है। भारत की भिन्न-भिन्न भूमियाँ अपने-अपने को इस 'बच्चे' की 'जननी' बनने का दावा करती हैं। काश्मीरी लोगों का कहना है कि कालिदास काश्मीर भूमि के थे, क्योंकि इसकी रचनाओं में हिमालय, उसमें होनेवाले पदार्थ तथा केशर–पुष्प का वर्णन आता है; 'प्रत्यभिज्ञान' का पुनः पुनः प्रयोग करके कालिदास ने काश्मीर के प्रत्यभिज्ञान–शैवसम्प्रदाय की ओर ही संकेत किया है। बंगाल के विद्वान् कालिदास को काली माता की उपासनावाली दन्त–कथा का आश्रय लेकर कवि को बंगदेशीय कहते हैं, क्योंकि काली की उपासना का अधिकतर प्रचार बंग–देश में ही है। इसी तरह विदर्भ (बरार), मालव और यहाँ तक कि सिंह की भूमि भी कवि की जन्म–दात्रियाँ बनने का दावा करती हैं, किन्तु 'बच्चा' अपने मुख से कुछ भी नहीं कहता कि अमुक उसकी जननी है; वह तो मुस्करा देता है केवल उस माँ की ओर जिसने उसे पाला-पोसा है और वह माँ उसकी उज्जयिनी है। उज्जैन के महाराज विक्रमादित्य की राज-सभा में इनका जीवन व्यतीत हुआ–इस तथ्य के साथ-साथ इनके हृदय में अवन्ती देश (मालवा का भाग विशेष) के प्रति, जिसकी राजधानी उज्जयिनी है विशेष पक्षपात दृष्टिगोचर होता है और उज्जयिनी के वर्णन में—विशेषतः मेघदूत

में, इन्होंने उसके प्रति जो पुत्र का सा अनुराग दिखलाया है, उससे हम इसी निष्कर्ष में पहुँचे हैं कि कालिदास उज्जयिनी के थे।

कला—कालिदास की कृतियाँ जगत् के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। इनके सारे ग्रन्थ—क्या तो महाकाव्य, क्या गीति-काव्य और क्या नाटक–कला की आलोचनात्मक किसी भी कसौटी पर कसे जाने पर सोने की तरह ऐसे खरे और उत्कृष्ट निकलते हैं कि क्या कहें। भावकल्पना, आदर्श और भाषा—इन आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ साहित्यकला का जो विशाल भव्य भवन इनकी रचनाओं में हमें मिलता है, उसके किसी भी प्रकोष्ठ में या प्रकोष्ठ-कोण में चले जाइए—सभी जगह एक–सी अनुपम रचना–चातुरी, एक–सी अतुल सौन्दर्यच्छटा अंकित मिलेगी, जो दर्शक गण को आनन्द–मुग्ध कर देती है। इनकी रचनाओं का भाव–तत्त्व, जिसे साहित्यिक परिभाषा में रस अथवा काव्यात्मा कहते हैं, कल्पना की विविध उड़ानों तथा उद्दात्त आदर्शों से सुन्दर समन्वय पाकर अपना ऐसा अच्छा परिपाक दिखाता है कि जिससे इनकी कला सर्वश्रेष्ठ बन जाती है साहित्यिक दृष्टि से सर्व-श्रेष्ठ होने के साथ-साथ वे पाठकों के आगे अपने में प्रतिबिम्बित तत्कालीन समूचे भारत को भी खड़ा कर देती हैं। महाकवि शेक्सपियर के शब्दों में 'कवि–चक्षु, अपने उत्तेजित क्षण में आकाश से पृथिवी तक और पृथिवी से आकाश तक घूमती है और ज्यों ही 'कल्पना' अज्ञात वस्तुएँ गढ़ने लगती हैं 'कवि लेखनी' उन्हें साकार रूप में परिणत कर स्थानीय वसति और नाम दे देती है'। कालिदास का अन्तर्वर्ती कवि भी भारतीय, जीवन के अन्तस्थल में पैठ कर अतीत के गर्भ में से कुछ टेढ़ी-मेढ़ी धुँधली-सी रेखाओं को निकालता है और फिर उनमें कला की कूची से विविध रंग भर कर ऐसे उत्कृष्ट और सजीव चित्र हमारे सामने खड़ा करता है कि जिनमें समूची भारतीयता मुखरित हो जाती है। इनके रघुवंश के चरित–नायकों में से दिलीप की पुत्र-प्राप्ति में विवाह की परिनिष्ठा, गौ-सेवा एवं गौ-सेवार्थ प्राणार्पण तक की भावना, रघु की इन्द्र से भी लोहा लेने की विक्रान्त भावना, दिग्विजय एवं अन्ततोगत्वा सर्वस्व दक्षिणयाग में सर्वस्व-दान ; इसी तरह अज, दशरथ, राम आदि के उदात्त जीवन–चित्र तथा कुमार–संभव अथवा शाकुन्तलादि नाटकों में क्या तो नायक, क्या नायिका और क्या अन्य पात्र—सभी आर्य–संस्कृति के उन उच्च आदर्शों के निदर्शन हैं, जो संसार में

अन्यत्र कहीं ढूंढे भी प्राप्त नहीं हो सकते । वास्तव में कालिदास भारत के सच्चे प्रतिनिधि–कवि हैं ।

प्रकृति–प्रेम—कला में सोन्दर्याधान करने के लिये एक सफल चित्रकार की तरह कवि प्रकृति को पृष्ठ-भूमि बनाता है, इसी लिए कालिदास भी प्रकृति के पक्के पुजारी बनकर अन्तर्जगत् के सौन्दर्य को बहिर्जगत् में भी देखते हुए दोनों में समन्वय ही नहीं, प्रत्युत तादात्म्य भी स्थापित करना चाहते हैं । इनकी प्रकृति जड़-प्रकृति नहीं । इनकी दृष्टि में प्रकृति का प्रत्येक अंश—क्या तो बड़ा सा बड़ा पर्वत और क्या छोटा सा छोटा पुष्प—अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखे हुए ऐसा ही चेतन है जैसा कि कोई मानव या देव । चेतनों की तरह ही उनमें भी सुख-दुःख का संवेदन और आशा-निराशा एवं भय-हर्ष की अनुभूति है । एक तरफ इनके ऋतुसंहार में मानव-हृदय के उद्दाम प्रणय के थपेड़े सारी प्रकृति में प्रतिफलित हुए मिलते हैं, तो दूसरी तरफ शकु-न्तला के पति–गृह जाने के अवसर पर कोई वृक्ष 'क्षौम' देने लगता है तो कोई 'लाक्षारस' और उसके चले जाने पर गृह-ललनाओं की भाँति लताएँ भी 'पाण्डुपत्रों' के आँसू गिराने लग जाती हैं तथा मृगियाँ भी 'दर्भ–कवल' उगल देती हैं जैसे कि शकुन्तला-वृक्षलतादि सबके सब परस्पर सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए एक ही विशाल परिवार के सदस्य हों । कवि को विश्व की अनेकता में यह एकता का दिव्य दर्शन भारतीय ऐकात्म्यवाद की पृष्ठ-भूमि पर हुआ प्रतीत होता है ।

कालिदास के प्रकृति–वीक्षण के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि इनकी निशित दृष्टि मानव-प्रकृति की तरह बाह्य–प्रकृति के भी अन्तरतम स्तर में घुस जाती थी, तथापि इन्होंने प्रकृति–वर्णन में उसके कान्त, कोमल एवं मधुर पहलू को ही चित्रित किया है, उदग्र, भीषण एवं भद्दे पहलू को नहीं । ये प्रकृति को अधिकतर एक नायिका के रूप में देखते हैं, जिसमें सरसता, सहृदयता और प्रेम का अनवच्छिन्न स्रोत फूट रहा हो और जो दुःखाकुल मानव हृदय को आशा और सान्त्वना का सन्देश देती हो । इनके प्रकृति–चित्रण में हमें कहीं तो वायु के झंकोरों से फड़फड़ाते किसलय–करों से ताल देते तथा भ्रमर-झंकार से मधुर संगीत छोड़े हुए लता– नर्तकियाँ नाच रही हैं, तो कहीं चन्द्र अपनी किरण–रूपी अंगुलियों से रजनी के बिखरे हुए

अन्धकार–रूपी केशों को हटाकर उसके प्रदोषकाल–रूपी मुखको चूम रहा है।' मेघदूत तो सारा का सारा ही प्रकृति में नायिकात्व की कोमल भावना का एक बृहत् निदर्शन है। कालिदास तथा तत्परवर्ती कवियों का प्रकृति में यह मानवता का आरोप ही बाद को हिन्दी में छायावाद का बीज बना है।

शैली––संस्कृत-काव्यों अथवा नाटकों में कालीदास की शैली अपना एक विशेष स्थान रखती है। इन्हें जो विश्व-प्रतिष्ठा मिली है, उसका वहुत कुछ श्रेय इनकी शैली को है। कैसा भी नीरस और भद्दा कथानक अथवा घटना क्यों न हो, उसे ये अपने कल्पना-प्रसूत अद्भुत सृष्टि-नैपुण्य-द्वारा ऐसा भव्य, मार्मिक और चमत्कृति-पूर्ण बना देते हैं कि वह देखते ही बनता है। निस्सन्देह इतिहास के गर्तों में से इन्होंने कथानक लिये हैं, किन्तु निरे कङ्काल-मात्र ही। मांस-रुधिर, नख-शिख, भूषा और अन्त में रस का प्राण फूँकते हुए उन्हें सजीव बनाकर सदा के लिए अमर कर देना—ये सब कालिदास की अपनी ही चीजें हैं।

कालिदास की लिखने के लिये वैदर्भी शैली है और दण्डी के—"तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्" इस कथनानुसार इस शैली के शोधन का सर्व प्रथम श्रेय इन्हें ही है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वैदर्भी रीति का निम्नलिखित लक्षण दिया है :—

माधुर्य-व्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ (ix. 3)

अर्थात् ऐसी ललितपद-रचना, जिसमें वर्ण माधुर्य उगल रहे हों, और वृत्ति (समास) न हो अथवा यदि हो भी, तो छोटे ही, वैदर्भी रीति होती है। इसके अनुसार भाषा में क्लिष्टता, प्रयास-साध्यता एवं कृत्रिमता सर्वथा हेय हैं। भाषा ऐसी ललित, स्वाभाविक तथा सरल होनी चाहिए कि सुनते ही कानों में अमृत घोलकर तत्काल अर्थबोध करा दें। ये सब बातें हमें कालिदास की सभी रचनाओं में प्राप्त होती हैं और इनकी यह ललित, परिष्कृत तथा प्रसादगुण-पूर्ण शैली ही इनको सर्वप्रिय बनाने में अधिक सहायक सिद्ध हुई।

मानव हृदय के भावों को व्यक्त करने का प्रकार भी कालिदास का अनोखा ही है। ये शब्दों की व्यञ्जना-शक्ति पर अधिक बल देते हैं, अभिधा-शक्ति पर कम। इस कारण इनके भाव सदा व्यङ्ग्य ही रहते हैं,

वाच्य नहीं होते और भावों की यह व्यङ्गचता ही काव्य-जगत् की सर्वश्रेष्ठ विभूति है, जो इनकी सभी कृतियों में ओत-प्रोत हुई मिलती है। एक छोटे से उदाहरण के रूप में—[1]कुमारसम्भव में महादेव के साथ अपने विवाह की बात सुन कर पिता के आगे पार्वती लजा गई, किन्तु कवि 'लजा गई' क्यों कहता, उसे तो 'मुख नीचे किये हुए अपने हाथ पर के कमल की पंखुड़ियों को गिनने लगी' कहकर व्यञ्जना द्वारा ही लज्जा-भाव का मार्मिक चित्र खींचना था। भावों की व्यङ्गचता के साथ-साथ कवि उन को अपने ठोस और अखण्ड रूप में ही रखना पसन्द करता है, उनकी 'चीरफाड़' नहीं करता। दुष्यन्त प्रेम से आहत-हृदय होने के अनन्तर जब फिर शकुन्तला को देखते हैं, तो उस समय उन्हें अपार आनन्द होता है। कालिदास ने—'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्' कह कर अकेले 'निर्वाणम्' पद से ही उनके अनिर्वचनीय आनन्द का बोध करा दिया है। इसके विपरीत भवभूति को देखिये कि वह वैसे ही आनन्द का कैसा विश्लेषण करता है जब कि सीता को दोबारा घर से निकाल देने के अनन्तर एक दिन बन में राम की उससे भेंट हुई, तो उसके कर-स्पर्श का उन को ऐसा आनन्द हुआ कि "जो सम्भवतः[2] कल्पवृक्ष के किसलयों से निचोड़ा हुआ रस था अथवा चन्द्रमा के किरण-समूह को दबाकर निकाला गया द्रव था, अथवा विरह की आग से जले हुए प्राणों को शीतल बनाने के लिए हृदय पर सञ्जीवनी औषधि का लेप था।" स्पष्ट है कि भाव व्यञ्जन में कालिदास ने तो अधिकतर संश्लेषणात्मक, (synthetic), शैली ही अपनाई है, विश्लेषणात्मक (analytic) नहीं।

कालिदास ने अपनी रचनाओं में अलङ्कारों का भी स्थान-स्थान में प्रयोग किया है, जो नितान्त दर्शनीय है। इनके अलंकार स्वाभाविक रूप में ही आते हैं और इनकी कविता-कामिनी के सौन्दर्य में निरन्तर वृद्धि ही करते हैं। कहीं-कहीं अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी हैं तो सही, किन्तु बहुत कम और वही जो अनायास ही घुस आये हैं। बलात् अलंकारों को लादने की चेष्टा कवि ने कभी नहीं की है, क्योंकि उससे रस का स्वाद ही बिगड़ जाता है। इन्होंने अपनी कृतियों में अर्थालंकारों को अधिक

१—vi—84. २—उत्तर०III–II.

महत्त्व दिया है और उनमें भी विशेषतः उपमा को, जिसके कारण ही इनकी जगत् में--'उपमा कालिदासस्य' यह ख्याति हुई है। वास्तव में देखा जाय, तो उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की मूलभित्ति उपमा ही है और इसी कारण कवि को वह अधिक रुची । कालिदास की उपमायें बड़ी स्वाभाविक सरस तथा मार्मिक होती हैं, अत एंव वे जगत् में अद्वितीय हैं। जिस बात को बतलाने के लिये बहुत शब्द--विस्तार अपेक्षित होता है, वह इनकी एक छोटी सी उपमा द्वारा बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के रूप में--'मार्ग में आये हुए किसी चट्टान से टकराती हुई नदी की तरह पार्वती महादेव को देखकर न तो जा ही सकी और न ठहर ही सकी', 'नगर की महिलायें आनन्द भरी-आँखों से राजकुमार का इस प्रकार अनुसरण कर रही थीं जिस तरह कि रातें शीतकाल के चमकते हुए तारों से ध्रुव का अनुसरण करती हैं', 'राजा लोग बाहरी प्रसन्नता में हृदय की ईर्ष्या को छिपाये हुए थे जैसे कि बाहर की शान्त गहराई में ग्राहों को छिपाये हुए झीलें', 'मृत्यु-द्वार-सा बाण का घाव'—इत्यादि कैसी सरस एवं मार्मिक उपमाएं हैं। उपमा के अतिरिक्त कवि ने उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, रूपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास--आदि अलंकारों का भी अच्छा प्रयोग किया है। स्वभावोक्ति में तो ये बहुत ही निपुण हैं। मेघदूत में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास का बड़ा अच्छा निदर्शन है।

चरित्र-चित्रण की शैली भी कालिदास की बड़ी अनूठी है। नपे-तुले शब्दों में ये अपने पात्रों का व्यक्तित्व तत्क्षण ही पाठकों के मानस-चक्षु के आगे खड़ा कर देते हैं। शकुन्तला को 'तनुगात्री' तथा विरह-पीड़ित यक्ष-पत्नी को 'शिशिर-मथिता पद्मिनीव' कहते ही उन दोनों का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है। ललित पद-विन्यास, प्रचुर प्रसादगुण, मधुर भाव-व्यञ्जना, सरस अलंकार तथा सजीव चरित्र-चित्रण वाली शैली के कारण ही कालिदास को विश्वप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इनकी मधुर सूक्तियों से मुग्ध होकर ही बाण ने विश्व को यह चुनौती दी थी :--

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ?

अर्थात्—कालिदास की आम्र-मञ्जरियों की तरह सरस और मधुर सूक्तियों को सुन कर किसके हृदय में आनन्द नहीं पैदा होता?

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस महाकवि की निम्नलिखित शब्दों में वन्दना की हैं—

"चिरकाल रसाल ही रहा जिस भावज्ञ कवीन्द्र का कहा—
जय हो उस कालिदास की कविता-केलि कला-विलास की।

प्रेम—कालिदास श्रृंगार-रस के कवि थे। इन्होंने मानव-हृदय की प्रेमवृत्ति को लेकर ही अपनी अधिकतर कृतियों में उसकी व्याख्या की है। साहित्यिकों के इस कथन पर कि श्रृंगार सब रसों का राजा है, बहुत कुछ सत्यता है, क्योंकि प्रेम मानव-हृदय के भाव-जगत् में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है; वह उसका अधिपति है; इसी लिए कालिदास के अन्तर्वर्ती 'कलाकार' ने जगत् को 'प्रेमदृष्टि' से देखा और उसकी सारी रचनायें श्रृंगार-प्रधान हो गईं। कवि के ऋतु० से लेकर शाकुन्तल तक सारे ग्रन्थ प्रेम के क्रमिक विकास की एक विस्तृत कहानी है। ऋतु में प्राकृतिक सौन्दर्य से अनुगत युवा-युवतियों की प्रेम-सरिता खूब तरंगें मार रही ह और यही बात मालवि० में मालविका और अग्निमित्र के कथानक में भी मिलती है, किन्तु इन दोनों रचनाओं में यह प्रेम केवल शारीरिक सौन्दर्य एवं उसके आकर्षणों पर अवलम्बित तथा ऐन्द्रियिक परितृप्ति में परिनिष्ठित हुआ अपने भौतिक पहलू को, अपने प्रारम्भिक वासना रूप को ही व्यक्त करता है; उससे आगे नहीं जाता वास्तव में कवि ने इन दोनों ग्रन्थों में प्रेम की पृष्ठभूमि बतलाकर प्रेम का उपक्रम-मात्र किया है। कुमार० और विक्रमो० हमें प्रेम-विकास की दशा में दूसरी सोपान पर चढ़ाते हैं। उनमें कवि ने प्रेम में पर्याप्त सुधार किया है। भौतिकता के दलदल में से उठाकर उसे आध्यात्मिकता के क्षेत्र पर प्रतिष्ठापित किया—एक ओर तो वासना की भूखी उर्वशी को प्रायश्चित-स्वरूप लता में परिवर्तित करके और दूसरी ओर निज सौन्दर्य पर गर्वोन्मत्त पार्वती को तपोवन में उतार करके। मेघदूत तो सारा एक विरहानल-कुण्ड ही है, जिसमें कवि द्वारा यक्ष का प्रेम वासना-मल दूर करने के लिये खूब फूका जा रहा है। अपनी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कृति शाकुन्तल में कालिदास ने भौतिक रूप से प्रारम्भ हुए प्रेम में वासना कर्दम को क्रमशः धोते-धोते अपने आध्यात्मिक रूप में परिनिष्ठित करवा कर उसे दिव्य और अमर बना दिया और यही भारतीय संस्कृति का आदर्श-प्रेम है।

कतिपय पाश्चात्त्य और भारतीय विद्वान् कवि की रचनाओं में कामुकता का आरोप लगाकर उनसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं, किन्तु वे भ्रम में हैं। कालिदास कर्त्तव्य-पथ से गिरा देने वाले उच्छृङ्खल, भोग-परक प्रेम का कभी पक्षपाती नहीं है। ऐसे प्रेम को तो इन्होंने मेघदूत में स्वामी के शाप से, कुमारसंभव में महादेव के रोष से और शाकुन्तल में दुर्वासा ऋषि के शाप से फूक ही डाला। एमर्सन के शब्दों में कवि उद्धार कर देने वाले देव (Liberating Gods) होते हैं। वे हमारी भावनाओं में प्रवेश करके उन्हें परिष्कृत करते हुए समाज को उठाते ही हैं, गिराते नहीं। इसलिए कालिदास की रचनाओं में जहाँ कला के 'सत्यम्' और 'सुन्दरम्' अंश हैं वहां उनके साथ-साथ 'शिवम्' अंश भी पूरा-पूरा है।

काव्य और उसके भेद—रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो, अभिनीत होकर देखा जा सके। इसके भीतर शाकुन्तल आदि नाटक आते हैं। श्रव्य काव्य पढ़ा और सुना ही जा सकता है। इसके तीन भेद होते हैं पद्य, गद्य और चम्पू (गद्य-पद्य-मिश्रित)। पद्य-काव्य भी तीन प्रकार के हैं—महाकाव्य, खण्ड काव्य और मुक्त-काव्य।

महाकाव्य—यह एक विस्तृत काव्य होता है, इसमें किसी प्रख्यात राजा या एक ही वंश के अनेक राजाओं का पूरा-पूरा जीवन-वृत्तान्त होता है। नगरों, ऋतुओं, सूर्य-चन्द्रोदयों, वन-विहार, जल-क्रीडा, यज्ञ, यात्रा आदि के वर्णन करने का भी नियम है। शृंगार, वीर अथवा शान्त—इनमें से कोई एक रस प्रधान रहता है और दूसरे उसके अङ्ग। सारा कथानक सर्गों में विभक्त रहता है। कुमार-संभव और रघुवंश कालिदास के महाकाव्य हैं।

खण्डकाव्य—यह आकार में महाकाव्य से बहुत छोटा होता है। इसको गीतिकाव्य भी कहते हैं। यह महाकाव्य का एक खण्ड ही होता है, क्योंकि इसमें समूचा जीवन-वृत्तान्त नहीं होता है, प्रत्युत जीवन के किसी एक ही पहलू या एक ही वृत्ति—जैसे प्रेम, धर्म या नीति को व्याख्या होती है। जो भेद एक उद्यान और उसमें होने वाले एक पौदे में है, वही भेद महाकाव्य और खण्ड-काव्य में है।

मेघदूत—यह संस्कृत-साहित्य के गीति-काव्यों में सर्व-प्रथम गिना जाता है। कालिदास की परिपक्व कला, कल्पना की ऊँची उड़ान, परिष्कृत माधुरी-

भरी भाषा, विषय की धारावाहिक गति, एवं गीति की एकतानता का यह एक ऐसा अद्‌भुत नमूना है कि जिसकी टक्कर का विश्वभर में दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। मेघदूत 'मन्दाकान्ता' में लिखा हुआ १२१ श्लोकों का छोटा सा काव्य है। इसमें कुबेर के शाप से प्रिया-वियुक्त हुए यक्ष के व्यथित हृदय की वेदना-भरी कहानी है, हृदय को द्रवित कर देने वाली 'विप्रलम्भ' की एक करुण-गीतिका है। यह दो भागों में विभक्त है—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ।

पूर्वमेघ—प्रिया के प्रति अन्ध-प्रेम होने के कारण अपने कर्त्तव्य से प्रमाद करने वाला एक यक्ष यक्षेश्वर कुबेर द्वारा वर्ष भर के लिये अलकापुरी से निकाला जाता है। बेचारे ने विन्ध्याचल में रामगिरि पर डेरा डाला और वहीं आश्रमों में रहने लगता है। एक दिन उसे आषाढ़ मास के आरम्भ में पहाड़ की चोटी पर उमड़ा हुआ बादल दिखलाई दिया; तत्काल उसका हृदय भर आता है। 'मेघ के दिखाई देने पर सुखी मनुष्य का भी चित्त डगमगा जाता है, फिर उसका तो कहना ही क्या, जो प्रिया को गले लगाना चाहता है, किन्तु दूर पड़ा हुआ है।' यक्ष ने फिर मिलने की आशा में वियोग के दिनों को गिनती हुई अपनी प्रिया को मेघद्वारा कुशल-समाचार पहुँचाना चाहा, अत एव पुष्पादिक से मेघ का स्वागत करके यों प्रार्थना करता है :—"हे भाई! सन्तप्तों के तुम ही एक-मात्र सहारे हो; तुम्हें उत्तरदिशा की ओर जाना है; वहां अलकापुरी में जाकर एक छोटा सा सन्देश मेरी प्रिया को पहुँचा देना। देखो, कैसी मन्द-मन्द पवन चल रही है; चातक पक्षी तुम्हारी बाईं ओर होकर बोल रहा है, बगुलों की पंक्तियां आकाश में उड़ रही हैं और साथ ही बाम्बी से यह इन्द्रधनुष भी प्रकट हो गया है। ये सब तुम्हारी यात्रा के लिए शुभ शकुन हैं, किन्तु मैं सन्देश कहूँ और तुम प्रस्थित हो—इससे पूर्व मैं तुम्हें रास्ता बता देना चाहता हूँ। 'ग्रामीण युवतियों की भोली भाली आनन्द-भरी आँखों से पिये जाते हुये' तुम माल को पार करके आम्रकूट पहुँचना। वहां से कुछ परे तुम्हें विन्ध्याचल की उन्नतावनत तलहटी में विभिन्न धारायें बनाकर बहती हुई रेवा नदी मिलेगी। वहां से तुम दशार्ण देश को जाना, जहां जामुन के वन पके हुए फलों से काले बने होंगे। राजधानी विदिशा में प्रवेश करके 'प्रिया के भ्रूभङ्ग-युक्त मुख की तरह चञ्चल तरंगोंवाली वेत्रवती का जल पीना और नीचै नामवाले पर्वत पर विश्राम लेना। वहां से चलकर यद्यपि तुम्हारे लिए मार्ग कुछ टेढ़ा पड़ेगा, तथापि उज्जयिनी

जाये बिना न रहना, क्योंकि वह ऐसी सुन्दर नगरी है मानो स्वर्ग की ही एक टुकड़ी भू पर लायी हुई हो। यदि वहां अटारियों में रहनेवाली ललनाओं की बिजली की चमक से भीत एवं चञ्चल चितवनों का स्वाद नहीं लोगे, तो तुम्हारी आंखें एक महान् लाभ से वञ्चित ही रहेंगी'। अतः निर्विन्ध्या को पार करके तुम अवन्ती देश में प्रविष्ट होना और फिर तुम उज्जयिनी पहुँच जाओगे। वहां बाजारें में विक्रयार्थ सजा कर रखे हुए हीरे, पन्ने, मोती आदि के ढेर के ढेर देखकर तुम्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो समुद्र में अब पानी के अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं। पास ही में महाकाल शिव का मन्दिर है। वहां तुम शिवजी की सायंकालीन पूजा के समय जाना जिससे कि गर्ज कर तुम नगाड़े का काम दे सको। वह रात उज्जयिनी में ही बिता कर प्रातःकाल फिर चल पड़ना और गम्भीरा को पार करके देवगिरि को जाना। वहां स्कन्द रहते हैं। पुष्पमेघ बनकर उनपर फूलों की वर्षा करना; तदनन्तर तुम चर्मण्वती नदी प्राप्त करोगे; उससे परे दशपुर आयेगा, जहां की स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य के लिये प्रख्यात हैं। वहाँ से तुम कुरुक्षेत्र पहुँचोगे, जहां अर्जुन ने क्षत्रियों के ऊपर इस तरह बाण बरसाये थे जिस तरह तुम कमलों पर बौछार बरसाते हो। वहां सरस्वती का जल पीना और आगे कनखल चले जाना, जहां परम-पावनी गङ्गा मैदान में बहने के लिये हिमालय से उतरती हैं उसका भी जल पीकर जब तुम आगे बढ़ोगे, तो तुम हिमालय पहुँच जाओगे। यहां देवदारु वृक्षों के घने वन के वन मिलेंगे। कहीं कस्तूरी मृगों की सुगन्धि आती रहेगी और कहीं शरभ तुम्हारी गर्जना सुनकर तुमसे टक्कर लेने के लिए आकाश में उछलेंगे। वहां तुम्हें मीठे स्वर से गाती हुई किन्नरियां भीं दिखाई देंगी; वायु से भरे हुए बाँस अपनी बाँसुरी बजा रहें होंगे, तो तुम भी गरज कर मृदङ्ग का काम देना। इस तरह हिमालय की सब विशेषताओं को देखते देखते चलो; तब विश्राम लेने के लिए तुम उसकी किसी चोटी पर बैठ जाना। फिर वहां से उत्तर की ओर चलकर क्रौञ्च-रन्ध्र (नीति-दर्रा) से तुम कैलास पहुँच जाओगे, जहां शिवजी रहते हैं। उस पर्वत की गोद में बसी हुई अलकापुरी को तुम उसके ऊँचे-ऊँचे प्रासादों से तत्काल पहचान लोगे।"

उत्तरमेघ—भय्या मेघ अलकापुरी के प्रासादों का क्या वर्णन करुं। उन्हें में अपनी तरह ही आकाश से बातें करते पाओगे। उनके फर्श मणियों के

हैं और दीवारें विविध चित्रों से सज्जित एवं रत्नों से जटित हैं । वहां ऐसी-ऐसी सुन्दरियाँ हैं, जो तुमने कभी देखी ही न होंगी; वृक्ष बारह मास फलते रहते हैं; प्रत्येक सांझ नित्य प्रति चाँदनी से उज्ज्वल हुई रहती है। वहां आंसू गिरते हैं, तो आनन्द में ही; ताप होता है, तो काम का ही और कलह होता है, तो प्रेम का ही; यौवन ही एक मात्र अवस्था है; बुढापा आदि नहीं। गृहों में सब प्रकार की विभूतियाँ और सुख-सामग्री नित्य उपस्थित रहती है। वसन-भूषण आदि जिस वस्तु की आवश्यकता पड़ती है, तो कल्पवृक्ष तत्काल पूरी कर देता है। अभिप्राय यह कि वहां सर्वत्र प्रेम और आनन्द का साम्राज्य है। इसी नगरी में कुबेर के भवन से उत्तर की ओर मेरा गृह है, जिसका विविधरत्न-जटित बहिर्द्वार तुम्हें दूर से ही इन्द्र-धनुष सा-चमकता हुआ दृष्टिगोचर होगा। उसके भीतर एक मन्दार वृक्ष है जिसे मेरी प्रिया ने पाल रखा है; पास ही एक बावड़ी भी है, जिसकी सीढ़ियां मरकत-मणियों से निर्मित हैं और जिसके एक किनारे पर तुम्हारे-जैसा ही एक क्रीडा-पर्वत भी है। उद्यान में एक रक्ताशोक और एक बकुल वृक्ष है। इन सब चिह्नों तथा द्वार पर चित्रित 'शंख' और 'पद्म' से मेरी अनुपस्थिति के कारण सूने-से पड़े हुए मेरे घर को तुम तत्काल पहिचान लोगे। भीतर तुम्हें 'युवतिथों में ब्रह्मा की आदि सृष्टि सी एक सुन्दरी दिखलाई देगी, जो शरीर से दुबली, कमर पतली और स्तनों से झुकी हुई होगी और जिसकी आंखे तो डरी हुई हिरनियों की तरह चञ्चल होंगी, किन्तु चाल नितंब-भार के कारण अलसाई-सी होगी, उसे मेरी पत्नी समझना। वह चक्रवाकी की तरह अकेली है, क्योंकि उसका सहचर मैं दूर पड़ा हुआ हूँ। मेरे वियोग के दुःख में बेचारी तुषार-पात से मारी हुई पद्मिनी की तरह कुछ की कुछ हो गई होगी। उसे तुम कभी तो मेरा चित्र बनाने का विफल प्रयत्न करती हुई पाओगे और कभी गोद में वीणा रखकर मेरे नाम की गीतिका द्वारा व्यर्थ ही मनोविनोद में लगी हुई देखोगे। कभी वह मैना से यों बात करती होगी––"ओ मीठा बोलनेवाली, क्या तुझे भी कभी अपने स्वामी की याद आती है ? उनके लिये तो तू बड़ी प्यारी थी।" कभी वह वियोग के शेष महीनों को देहली पर रखे हुए पुष्पों से गिनती होगी। तुम पहले तो––मैं तुम्हारे पति का मित्र हूँ––यों अपना परिचय देना और तदनन्तर मेरा यह सन्देश कहना––

'प्रिये, मैं प्रियंगु लताओं में तुम्हारे शरीर की, भय-भीत हुई मृगियों की दृष्टि में तुम्हारे चितवन की, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख-सौन्दर्य की, मयूरों के पुच्छों में

तुम्हारे केशपाश की और नदियों की तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास की कल्पना करता रहता हूं, किन्तु बड़ा दुःख है कि उनमें से किसी में भी तो तुम्हारी अंगों की समता नहीं मिलती। हृदय में कितनी ही आशायें रखे हुए मैं भी तो अकेला इन वियोग की घड़ियों को किसी तरह काट ही रहा हूं; अतः ओ सजनि, तुम निराश न होना। भला सोचो तो सही कि निरन्तर सुख ही सुख या दुःख ही दुःख कभी किसी को मिला भी है? भाग्य का चक्र कभी तो ऊपर चला जाता है और कभी नीचे आ जाता ह। अब मेरे शाप के समाप्त होने के लिए केवल चार महीने शेष हैं; इन्हें आँख मीचकर सह लो और फिर हम दोनों शरद् की चाँदनी रातों में वियोग के कारण कितना ही गुणा बढ़ी हुई उन-उन इच्छाओं को अच्छी तरह पूरी कर लेंगे।"

यों सन्देश देकर अन्त में यक्ष मेघ को बोला—"भैया, यह मेरा कार्य–चाहे मित्रता के नाते बोलो, चाहे मुझ दुःखी के प्रति दया के नाते बोलो––किसी तरह बाद को जहाँ तुम्हारी इच्छा हो चले जाना। तुम्हारा मेरी तरह बिजली से कभी वियोग न हो––यही मेरी तुम्हारे लिए कामना है।

मेघदूत का उद्गम–कुमार० और रघु० की तरह मेघदूत किसी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक आधार पर टिका हुआ नहीं है। यह तो निरा कल्पना-प्रसूत ही है। मेघ को दूत बनाकर यक्ष का अपनी पत्नी को सन्देश भेजने की बात संस्कृत-साहित्य में बिल्कुल नयी है। कुछ आलोचकों का विचार है कि यह ग्रन्थ कालिदास के व्यक्तिगत जीवन में घटी हुई किसी वियोग-घटना पर आधारित है। सम्भवतः किसी कारण–वश कवि को अपनी प्रिय से बिछुड़ कर जाना पड़ा हो और वियोग की वह आप–बीती वेदना ही मेघदूत के रूप में अभिव्यक्त हुई हो। श्री हरिनाथ महोदय का कहना है कि "कालिदास" से पूर्व ही चीन के एक कवि ह्यू-कान् (Hsiu Kan) (२०० ई०) ने मेघ को दूत बनाकर भेजने की कल्पना कर ली थी", किन्तु कालिदास के जन्मकाल सम्बन्धी पाँचवी शताब्दीवाले वाद के खण्डन हो जाने से यह बात भी स्वयं खण्डित हो जाती है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ मेघदूत की टीका में–"सीतां प्रति रामस्य हनुमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघदूत-सन्देशं कविः कृतवानित्याहुः" कहकर वाल्मीकि रामायण में आई हुई राम का हनुमान् द्वारा सीता को सन्देश पहुंचानेवाली घटना को मेघदूत का बीज बतलाते हैं और 'आहुः' कहकर यह भी द्योतित करते हैं कि उनके समय में मेघदूत-विषयक यह धारणा

सर्व-साधारण थी । इसमें सन्देह नहीं कि मेघदूत में 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' 'रामगिर्याश्रमेषु' 'रघुपतिपदैरङ्कितम्' 'दशमुखोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः' 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' इत्यादि पंक्तियों पर राम के कथानक की छाप अवश्य पड़ी हुई है ; साथ ही मेघदूत तथा रामायण का वर्षाऋतु–वर्णन और कतिपय अन्यान्य बातें भी बहुत कुछ समान ही मिलती हैं, अतः संभव है कि कालिदास को वाल्मीकि से थोड़ा-बहुत भाव-प्रेरणा मिली हो जैसे कि रघुवंशादि में भी मिली है, किन्तु निर्माण की दृष्टि से मेघदूत की सारी वस्तुयें कालिदास की अपनी ही हैं, जिससे इस ग्रन्थ की मौलिकता पर कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिये । निस्सन्देह दूतकाव्यों की परम्परा चलाने का आदि-श्रेय कालिदास को ही है ।

मेघदूत की विशेषता—यह हम पीछे कह आये हैं कि कालिदास का मेघदूत गीति काव्यों का चूड़ामणि है । साहित्यिक जगत् में जो ख्याति कवि को रघुवंश और शकुन्तला ने प्रदान की है, मेघदूत ने भी उससे किसी तरह भी कम ख्याति नहीं प्रदान की । विद्वानों की तो यहां तक सम्मति है कि यदि कालिदास रघुवंश शाकुन्तल–आदियों को न लिखकर केवल मेघदूत को ही लिखते, तो भी संसार इन्हें प्रकाण्ड महाकवियों में ही गिनता । कल्पना का विविध विलास, भावों की कोमल व्यन्जना तथा माधुर्य का सतत प्रवाह जो हमें इस रचना में मिलता है, वह अन्यत्र कहां । यक्ष तो केवल निमित्त-मात्र है । वास्तव में विरह-पीडित मानव का समूचा अन्तर्जगत्–क्या तो आशाएँ, क्या निराशाएँ, क्या हर्ष और क्या विषाद–हमारे आँखों के सामने खड़ा हो जाता है । मेघदूत के प्रतिश्लोक के शब्द-शब्द और अक्षर-अक्षर में विरह–व्यथित हृदय की गहरी आह और सूक्ष्म धड़कन सुनाई देती है । यहाँ तक कि पर्वत, नदियां नगरियां, ग्राम एवं ग्राम-भूमियाँ आदि सारी बाह्य प्रकृति भी सहानुभूति-पूर्ण होकर अन्तर्जगत् के साथ अपनी एकता स्थापित करती हुई स्वयं भी विरह की आग उगल रही है । पूर्वमेघ तो प्रायः प्रकृति के ही चित्रों का एक विशाल ऐल्बम है (Album) है । सर्वप्रथम प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अंश मेघ ही कभी तो 'चिर-विरह के कारण गर्म-गर्म आँसू गिराते हुए अपने प्रिय-सखा शैल को गले लगाता हुआ,' कभी 'किनारे के वृक्षों से गिरे हुए पुराने पत्तों के रूप में विरह से पीली पड़ी निर्विन्ध्या की कृशता को दूर करता हुआ' और कभी 'मछली की किलोल के रूप में गम्भीरा के चञ्चल

चितवन को विफल न जाने देता हुआ' चित्रित हुआ है । कहीं प्रिय-समागम के सुख-लोभ से बगुलियाँ पंक्ति—बांध कर आकाश में उड़ रही हैं, 'शिलीन्ध्रों' से रोमाञ्चित पृथिवी जुती जाती हुई प्रथम वृष्टि के कारण महक छोड़ रही है, कहीं चौकड़ी भरती हुई मृगियाँ मेघ को मार्ग बता रही हैं, कहीं गर्जन-पूर्वक तीर से जल-ग्रहण के रूप में मेघ के अधरपान करने पर वेत्रवती चञ्चल तरङ्गों के रूप में भ्रकुटि ताने हुए है, कहीं 'प्रतनु सलिल' की एक वेणी बाँधे हुए कृश-गात सिन्धु अपनी विरहा-वस्था को व्यक्त कर रही है, कहीं सूर्य प्रवास से आकर अपने करों से विरह पीड़ित नलिनी के 'कमल-वदन' पर गिरे हुए ओस के आँसू पोंछ रहा है । और कहीं 'अपने फेन' से गौरी के भ्रूभंग का उपहास करती हुई' जह्नु-कन्या' वियोग के भय से लहर-करों द्वारा शिवजी के केशों को पकड़े हुए है ।' प्रकृति की इस समवेदना से विरही यक्ष के संतप्त हृदय को बड़ी शान्ति मिलती रहती है । इस तरह विरह-भावना से प्रतिबिम्बित बहिर्जगत् को पृष्ठ-भूमि बनाकर कलाकार उत्तर मेघ में अन्तर्जगत् का चित्रण करता है, जिसमें भी हमें उसी तूलिका-कौशल का दर्शन होता है जैसे कि बाह्य-प्रकृति के चित्रण में । बेचारी विरह-पीड़ित यक्ष-पत्नी पाले से मुरझाई हुई कमलिनी की तरह क्या थी और क्या हो गई; न तो बहुत बोलती है और न ही संसार के पदार्थों में रुचि रखती है; आभूषण-रहित हो एक मैली सी साड़ी पहने 'सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की तरह अकेली एक मूर्तिमती हूक-सी बनी बैठी है । वह कभी गोद में वीणा लेकर प्रिय का गीत छेड़ना चाहती है कि सहसा हृदय में स्मृति की विषम वेदना आँसू बनकर बह जाती है और तत्क्षण ही उसका कण्ठ भी मूक और वीणा भी मूक रह जाती है । रातें आँखों में ही बीतती हैं और बेचारी पति-समागम के सुख-स्वप्नों से भी वञ्चित ही रहती है । उसका कोमल हृदय कभी का टूट गया होता यदि अवधि के समाप्त होने पर पति से पुनर्मिलन की आशा उसे थामे न होती । वास्तव में मेघदूत की नायिका यक्ष--पत्नी भारत की एक आदर्श नारी है और सर्वथा उसी पंक्ति में बैठने का अधिकार रखती है, जिस पंक्ति में कालिदास की अन्य नायिकायें--पार्वती, इन्दुमती, सीता और शकुन्तला--बैठी हैं । अब दूसरा यक्ष का भी चित्र देखिये; बेचारा प्रकृति के सौन्दर्य और विरह में अपने हृदय का आभास प्राप्त कर आश्वसित हो प्रियतमा से पुनर्मिलन की आशा में किसी तरह जीवित ही रहता है; कभी किसी शिला-फलक पर गेरू से अपनी प्रणय-कुपित

प्रेयसी का चित्र बनाकर उसे मनाने के लिए ज्यों ही चरणों पर गिरना चाहता है कि क्रूर भाग्य आँखों को आसुओं से भर उसे देखने ही नहीं देता; कभी दक्षिण की ओर से बहनेवाली देवदारु-द्रुमों की सुगन्धित पवन का इस विचार से आलिङ्गन करता है कि वह अवश्य उसके प्रेयसी के अङ्गों का स्पर्श करके आई होगी; कभी चकित हुई मृगियों की दृष्टि में अपनी प्रियतमा की चितवनों की, चाँद में उसके मुख-सौन्दर्य की और नदी-तरङ्गों में उसके भ्रूविलासों की कल्पना किया करता है; कभी स्वप्न में प्रिया-समागम होने पर उसे आलिङ्गन करने के लिए आकाश में भुजाओं को उठाता है जिसे देखकर वन-देवियाँ भी दो-दो आँसू गिरा देती हैं। यह सब विरह-व्यथित हृदय की ऐसी कठोर वेदना है कि सहृदय पाठकों को शृङ्गार अपना क्षेत्र छोड़कर करुण-रस की सीमा के आसपास गया हुआ दिखाई देता है। इस तरह यक्ष का प्रेम वियोग के अग्नि-कुण्ड में पड़ कर वासनात्मक मल को भस्म करके अपनी सीमित परिधि से निकला हुआ असीम-रूप में अभिव्यक्त होने लगता है; अब उसे क्या महल, क्या मार्ग, क्याआगे और क्या पीछे-सभी जगह प्रियतमा ही प्रियतमा दृष्टिगत होने लगी-यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा सारा ही विश्व उसे प्रियतमात्मकता के एकत्व-वाद में परिसमाप्त हुआ अनुभूत होने लगा—

"प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥"

यह है भारत का आदर्शप्रेम जो, साधना द्वारा पूत होकर विश्वप्रेम में परिणत हुआ यक्ष को वृक्ष, पर्वत, नदी, नद-अर्थात् सभी जड़-चेतनों के प्रति ममत्व की दिव्य अनुभूति प्रदान करता है और इस तरह उसे सान्त से अनन्त की ओ ले जाता है, 'मर्त्य' से 'अमर' बना देता है।

मेघदूत में अलंकारों का भी स्थान-स्थान में बड़ा अच्छा और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है जिससे रचना को बहुत सौन्दर्य मिला। कवि की कला-सहजा उपमा का विलास तो देखते ही बनता है। कहीं तो नदी का चञ्चल तरंगोंवाला जल पिया जाता हुआ नायिका का भ्रकुटि-ताने अधर-सा है (२५) कहीं हिमालय के तुषार-गौर शृङ्ग से लगा हुआ मेघ शिवजी के वृषभ द्वारा उखाड़कर अपने ऊपर फेंका हुआ पंक-सा है (५५) कहीं वर्षाकाल में जल-बिन्दुओं की झड़ी लगानेवाला मेघ किसी कामिनी का मोतियों से सुशोभित केशपाश-सा है (६५) और कहीं विरह-

शय्या पर एक ही पार्श्व में लेटी हुई चिन्ता-कृश यक्षपत्नी पूर्वदिशा में कलामात्र-शेष चन्द्रमा-सी है (२९ उ० में)। उत्प्रेक्षा भी यथास्थान अच्छी ही प्रयुक्त हुई मिलती है--कहीं दूर से छोटी-सी दिखाई देनेवाली नदी की धवल धार--जब मेघ उसका जल ग्रहण के लिए एक तरफ झुकता है--ऐसी प्रतीत होती है मानो कि पृथिवी की मध्य में मोटे-से नीलम को रखे हुए मोतियों की लड़ी हो; (४९) कहीं पके हुए जंगली आम्रों से घिरे पर्वत की चोटी से सटा हुआ मेघ ऐसा लगता है मानों मध्य में काला और शेष भाग में पीला-सा पृथिवी-नायिका का स्तन हो (१८), और कहीं गंगा के धवल जल को ग्रहण करने के लिए झुका हुआ काला मेघ ऐसा लग रहा है, मानो प्रयाग से अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान में गंगा-यमुना का संगम हो गया हो (५४) अर्थान्तरन्यास भी ऐसे अच्छे और सार्वभौम तथ्य पर आश्रित है कि उनमें से बहुत से तो संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध आभाणक भी बन गये हैं जैसे --'कामार्त्ता हि प्रकृति-कृपणाश्चेतनाचेतनेषु,' 'याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा', 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं' दुःखमेकान्ततो वा, नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

मेघदूत की लोकप्रियता--अपने गुणों के कारण मेघदूत बहुत ही अधिक लोक-प्रिय बना। इससे परवर्ती अनेक कवियों ने भाव-प्रेरणा ली और इसी के अनुकरण पर कितने ही दूत काव्यों की रचना हुई। आठवीं शताब्दी (ई०) में प्रसिद्ध जैन कवि जिनसेन ने मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक पाद को समस्या-पूर्ति के रूप में लेकर जैन महात्मा पार्श्वनाथ का पार्श्वाभ्युदय–नामक जीवन-चरित्र लिखा। निदर्शन के रूप में प्रथम श्लोक के प्रथम-पाद की समस्या–पूर्ति इस तरह है:--

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तंभलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बद्धवैरेण दग्धः,
कश्चित् कान्ता-विरह-गुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः॥

बारहवीं शताब्दी में धोयी कवि ने 'पवनदूत' रचा; तत्पश्चात् नेमिदूत, कोकिलदूत, हंसदूत, शीलदूत, उद्धवदूत–आदि दूत-काव्यों की प्रथा सी चल पड़ी। हिन्दी में भी व्रजभाषा और खड़ी बोली को मिलाकर छः पद्यानुवाद बन चुके हैं और एक तो उनमें सचित्र भी है। भारत के बाहरी देशों पर भी मेघदूत

का बड़ा प्रभाव पड़ा। जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने मेरियो स्टुअर्ट' नाटक में कालिदास के अनुसार ही मेघ-द्वारा सन्देश भेजने की कल्पना की है। जर्मन विद्वान् श्वेट्ज़ (Sehutez) ने मेघदूत का जर्मन गद्य में और प्रो० मैक्समूलर (Maxmuller) ने जर्मन-पद्य में अनुवाद किया। अमेरिका के प्रसिद्ध संस्कृत-अनुवाद आर्थर राइडर (Arthur Ryder) ने मेघदूत का अंग्रेजी में बड़ा अच्छा पद्यानुवाद किया है। डा० बेक्ख (Beckh) ने इसको तिब्बती भाषा में अनूदित किया। इससे यह बात अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है कि प्राचीन विद्वानों ने मेघदूत को जो गौरव प्रदान किया था उसे सभी आधुनिक विद्वान्—क्या घर के और क्या बाहर के—भली भाँति निभा रहे हैं।

टीकायें—मेघदूत पर कुल मिलाकर इस समय ४० से अधिक टीकायें मिलती हैं। टीकाकारों में प्रसिद्ध ये हैं—१ वल्लभ, २ निरुक्तकार, ३ मल्लिनाथ ४ सारोद्धारिणी, ५ सरस्वती तीर्थ, ६ सुमतिविजय और ७ महिमसिंहगणी। कालक्रमानुसार सर्वप्रथम टीकाकार वल्लभ (७वीं शताब्दी) ही हैं और तदनन्तर निरुक्तकार तथा मल्लिनाथ हैं। मल्लिनाथ सर्वप्रसिद्ध ही हैं। शेष टीकायें उनके बाद की हैं। मेघदूत के मूल-श्लोकों के पाठ, संख्या तथा क्रम के सम्बन्ध में टीकाकारों में मत भेद पाया जाता है। जिनसेन के पाठ में १२० श्लोक है, वल्लभ के पाठ में १११ और मल्लिनाथ के पाठ में १२१ (उन पांच श्लोकों को मिलाकर, जिन्हें इन्होंने प्रक्षिप्त बताया है)। प्रो० मैकडानल ११५ और विल्सन महोदय ११६ श्लोकों को ही मौलिक बतलाते हैं। वास्तव में पाठ-भेद होने पर भी उसका इस काव्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता; हां अन्त के उपसंहारात्मक प्रक्षिप्त श्लोक कला की दृष्टि से अवश्य अनुपादेय हैं और उन्हें हटा ही देना चाहिए।

मोहनदेव पंत, संसार चन्द्र

महाकविश्रीकालिदासविरचितम्

मेघदूतम्

॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीकालिदासप्रणीतं

मेघदूतम्

पूर्वमेघः

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः[1]
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

अन्वयः—स्वाधिकारात् प्रमत्तः कान्ताविरहगुरुणा वर्षभोग्येण भर्तुः शापेन अस्तङ्गमितमहिमा कश्चित् यक्षः जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे ॥१॥

पदार्थः—स्वाधिकारात्प्रमत्तः = अपने काम से प्रमाद करने वाला, असावधान। कान्ताविरहगुरुणा = प्रिया के वियोग से दुःसह । वर्षभोग्येण = साल तक भोगे जानेवाले । भर्तुः = स्वामी के। शापेन = शाप से । अस्तंगमितमहिमा = जिसकी महिमा (सामर्थ्य) का विनाश कर दिया गया था, अर्थात् महिमा से वञ्चित किया गया हुआ । यक्षः = देवयोनिविशेषः, 'विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्व-किन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनय' इत्यमरः। जनक-तनया० = जनक की पुत्री (सीता) के स्नानों से पुण्य जलोंवाले। स्निग्धच्छाया० = घने छायादार वृक्षों से युक्त । रामगिर्याश्रमेषु = रामगिरि के आश्रमों में। वसतिम् = निवासस्थान, डेरा। चक्रे = बनाया ॥१॥

भाषानुवादः—अपने कार्य से प्रमाद (असावधानी) करनेवाले (अत एव) प्रिया के वियोग से दुःसह एवं वर्ष तक भोगने योग्य स्वामी के शाप द्वारा (अपनी) महिमा से वञ्चित किए गये किसी यक्ष ने जनक-पुत्री (सीता) के स्नानों से पवित्र हुए जलोंवाले तथा घने छायादार वृक्षों से युक्त रामगिरि के आश्रमों में डेरा डाला ॥१॥

१—स्वाधिकारप्रमत्तः सु. वि., वल्ल० म. सि., विल्स० ।

व्याकरणम्—स्वाधिकारात्प्रमत्तः=अधिक्रियते अस्मिन् इति अधि+ √ कृ, त० उभ० + घञ्, अधिकरणम्—अधिकारः स्वस्य अथवा स्वः अधिकारः ष०तत्पु० अथवा कर्मधा० तस्मात्—यहाँ 'प्रमाद' अर्थ में "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" से पञ्चमी का प्रयोग हुआ। प्रमत्त—प्र + √मद्, दि० प०+त(क्त) कान्ताविरहगुरुणा=कान्तायाः (षष्ठीत०) विरहेण (तृती० त०) गुरुणा। वर्षभोग्येण=वर्ष भोग्येन; यहां "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" से द्वितीया, "अत्यन्तसंयोगे च" से समास तथा 'कुमति च' से न को णत्व हुआ है। शापेन = √शप्, भ्वा० उभ० + अ (घञ्) भावे—शापः तेन हेतौ तृतीया। जनकतनयास्नान०= जनकतनयायाः स्नानैः पुण्यानि उदकानि येषु (बहुव्रीहि)। अस्तंगमितमहिमा अस्तं (अव्यय) गमितो महिमा यस्य (बहुव्रीहि)। गमित = √गम्, भ्वा० प० = (णिच्) + त। स्निग्धच्छाया० = छाया–प्रधानाः तरवः छायातरवः, मध्यमपदलोपी समास। स्निग्धाः छायातरवः येषु तेषु बहुव्रीहिः। दक्षिणा० छायातरु का विग्रह 'छायाप्रचुरास्तरवः' करता है। रामगिर्याश्रमेषु=रामगिरेराश्रमेषु (षष्ठी तत्पु०) चक्रे=√कृ तना० उभय, लिट् लकार, प्रथमपुरुष एक०। 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यात्मनेपदम्॥ १॥

विशेषः—मेघदूतः = मेघ एव दूतः मेघदूतः स एव अभेदोपचारात्तत्संज्ञं काव्यम्। यहां 'अभेदोपचारात्' का अर्थ आरोप (Superimposition) है, अर्थात् पहले तो मेघ में ही दूतत्व का आरोप है, और फिर मेघदूत में भी काव्यत्व का आरोप है। अथवा मेघ एव दूतः यस्मिन् काव्ये तत् (बहुव्रीहि) मेघदूतम्—दूत = √दु, गतौ+त (क्त) इसमें 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' इस उणादिसूत्र से 'उ' को दीर्घ हुआ। अथवा √दु उपतापे+क्त, कर्त्तरि इससे दुत (दुःखित) बना, परन्तु यह अर्थ यहाँ उचित नहीं। मेघदूत एक 'खण्डकाव्य' है, (जिसके विशद वर्णन के लिए ग्रन्थ की भूमिका देखिए)।

क्योंकि इसमें महाकाव्य के सब लक्षण पूरे नहीं घटते। 'खण्डकाव्यं महाकाव्यस्यैकदेशानुसारि यत्'। महाकाव्य का लक्षण दण्डी के काव्यादर्श और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में देखिए। इस खण्डकाव्य में शृंगार रस प्रधान है। यहाँ विप्रलम्भशृंगार (Love Sentiment in Separation) है।

संस्कृत में ग्रन्थ प्रारम्भ करने के लिये तीन प्रकार के मङ्गल होते हैं—
1. आशीः (Benediction); 2. नमस्क्रिया (Salutation);

3. वस्तुनिर्देश: (Introduction of subject matter) । इस काव्य का प्रारम्भ कालीदास ने तीसरे प्रकार से किया है ।

कान्ताविरह०--यहाँ 'भार्या' शब्द का प्रयोग न कर कवि ने जान-बूझकर 'कान्ता' (प्रेयसी) का प्रयोग किया है । इसलिये परिकराङ्कुर अलंकार है । जहां विशेष्य साभिप्राय (Significant) हो, वहाँ परिकराङ्कुर अलंकार कहते हैं । गुरु=भारी, दु:सह, सहन करने में कठिन ।

महिमा—महिमन् (पु०) प्रथमा एक० । इसका अर्थ—बड़ाई, दैवी शक्ति, जैसे–अन्तरिक्ष में उड़ना, अदृश्य होना आदि । शाप में दैवी शक्ति को नाश करने का सामर्थ्य है । देखिये–विक्रमोर्वशी IV 'गुरुशापसंमूढहृदया' । और देखिए दशकुमार० V 'तया गिरिदुहित्रा. . . .गतस्ते शाप इत्यनुगृहीता (अहं) सद्य एव प्रत्यापन्नमहिमानं त्वां यथावदभ्यजानाम् । 'अस्तंगमितमहिमा' साभिप्राय विशेषण है क्योंकि यदि कुबेर के शाप के कारण यक्ष की महिमा लुप्त न हुई होती, तो वह अदृश्यरूप हो अपनी कान्ता से मिलकर और उसका कुशल-क्षेम पूछ कर वापिस आ सकता था । इस अवस्था में मेघ के द्वारा सन्देश भेजने का अवसर ही न आता और न कवि को काव्य की पृष्ठ-भूमि मिलती । विशेषण यदि साभिप्राय हो तो परिकर अलंकार बनता है ।

स्वाधिकारात्प्रमत्तः—कुछ एक टीकाकारों के अनुसार यक्ष का यह काम था कि वह प्रतिदिन प्रातः कुबेर के लिए अभिनव पुष्पों को शिव जी की पूजा के निमित्त लाया करता था । एक दिन आनेवाले प्रातःकाल अपनी कान्ता का संग छोड़ने की अनिच्छा से वह रात के समय में ही कमल की कलियों को ले आया जो दूसरे दिन खिल जाने वाली थीं । अगले दिन प्रातः जब कुबेर इन्हें शिव जी पर चढ़ा रहा था, तो एक भ्रमर ने, जो कि किसी अधखिली कली में छिपा हुआ था, उसकी अंगुलियों में डंक मारा । इससे क्रुद्ध होकर उसने यक्ष को शाप दिया:— "तू अपनी कान्ता से—जिसके कारण तूने अपने कर्तव्य से प्रमाद किया है—एक सालभर पृथक् रहेगा" । कुछ टीकाकार कहते हैं कि 'यह यक्ष कुबेर के उद्यान का रक्षक था । एक दिन वह अपना स्थान छोड़कर कहीं चला गया । इतने में इन्द्र के हाथी ने उद्यान में घुस कर वहाँ की फूलों की क्यारियों को रौंद डाला, (विल्सन) । Third Story two narrated by Prof K.N. Dhar.

यक्ष—ये नरदेव अथवा गन्धर्व श्रणी से सम्बन्ध रखते हैं । ये धन के देवता

कुबेर के सेवक कहे गये हैं, इस कारण कुबेर को 'यक्षेश्वर' भी कहा जाता है; देखिए श्लोक 7 'गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्'। यक्षों का काम कुबेर के उद्यानों और कोश की रक्षा करना है। यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'यक्ष्यते पूज्यते इति यक्षः' अथवा 'इः कामः तस्य इव अक्षिणी यस्य' अथवा 'इः अक्ष्णोः यस्य' इति।

स्निग्धच्छाया०—मल्लि० ने० 'स्निग्ध' का अर्थ सान्द्र (घना) लिया है। छायाप्रधानास्तरवश्छायातरवः शाकपार्थिवादिवत् मध्यमपदलोपी समास है। इस प्रकार 'छाया तरवः' से नमेरु वृक्षों का अर्थ लिया है। इसका 'घने छाया देने वाले वृक्ष' यह अर्थ करना अच्छा है। 'स्निग्ध' का अर्थ 'रम्य' सुन्दर भी लिया जा सकता है; इस प्रकार यह छाया का विशेषण है। एक टीकाकार 'छाया-तरवः' की इस प्रकार व्याख्या करता है—'पूर्वापरदिग्भागेऽपि सवितरि येषां छाया न परिवर्त्तते ते छाया-तरव उच्यन्ते'।

आश्रमेषु—इससे यह प्रकट होता है कि अपनी कान्ता से वियुक्त हुआ यक्ष एक स्थान पर न ठहर कर कई आश्रमों में रहता रहा।

जनकतनयास्नान-पुण्योदकेषु—सीता जन्म से पवित्रता की मूर्ति मानी जाती है, अतः उसके स्नान से रामगिरि के आश्रम भी पवित्र हो गये। देखिए उत्तर० 'उत्पत्तिपरिपूतायाः किमन्यैः पावनान्तरैः'।

रामगिरि—वल्लभ और मल्लिनाथ 'रामगिरि' से चित्रकूट पर्वत लेते हैं। विल्सन महोदय के विचार में यह पर्वत 'रामटेक' (Hill of Rama) ही है, जो नागपुर के पास उत्तर की ओर है। आधुनिक पुरातत्त्व अनुसन्धान के अनुसार 'रामगिरि' का मध्यप्रान्त में स्थित रामगढ़ से अभिप्राय है, क्योंकि यह आम्रकूट या अमरकण्टक के बिलकुल समीप है—जिससे नर्मदा नदी निकलती है। कवि ने आम्रकूट और नर्मदा इन दोनों का आगे उल्लेख किया है।

इस सारे काव्य में 'मन्दाक्रान्ता' छन्द है, जिसका लक्षण इस प्रकार है:— 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्'। इस छन्द में प्रत्येक पाद में

SSS SII III SSI SSI SS

१७ अक्षर होते हैं और वे **मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु** होते हैं

SSS SII III SSI SSI SS

—जैसे—कश्चित्का—न्ताविर—ह-गुरु—णास्वाधि—कारात्प्र—मत्तः ॥१॥

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः ।
आषाढस्य [1]प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥२॥

अन्वयः--अबलाविप्रयुक्तः कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः स कामी तस्मिन् अद्रौ कतिचित् मासान् नीत्वा आषाढस्य प्रथमदिवसे आश्लिष्टसानुं वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं मेघं ददर्श ॥२॥

पदार्थः--अबलाविप्रयुक्तः=प्रिया से बिछुड़ा हुआ। कनकवलय०=सोने के कड़े के गिर पड़ने से शून्य कलाईवाला। कामी=भोग-विलासी। अद्रौ=पहाड़ पर। कतिचित् मासान्=कुछ महीनों को। नीत्वा=बिताकर। आश्लिष्ट-सानुम्=पहाड़ की चोटी से सटे हुए। वप्रक्रीडापरिणत०=टीले से मिट्टी उखाड़कर खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दीखनेवाले। मेघम्=बादल को। ददर्श=देखा ॥२॥

भाषानुवाद--प्रिया से बिछुड़े हुए, (कृशता के कारण) सोने के कड़े के गिर जाने से शून्य कलाईवाले, उस कामी ने कुछ महीने उस पहाड़ पर बिता कर, आषाढ़ के पहले दिन पहाड़ की चोटी से सटे हुए बादल को देखा, जो कि टीले से मिट्टी उखाड़ने के खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई दे रहा था ॥२॥

व्याकरणम्-अबला विप्रयुक्तः=अबलया विप्रयुक्तः (तृ० तत्पु०)। कामी=√कम्+इन् (णिनि) कर्तरि अथवा √कम्+घञ् भावे कामः स अस्ति अस्य इति काम+इनि (मत्वर्थ) कतिचित्=कति+चित्; इसमें 'कति' 'मासान्' का विशेषण है। 'कति' सर्वनाम के रूप बहु० में ही होते हैं। इसके रूप प्र० द्वि० में कति तथा अन्य विभक्तियों में 'हरि' के समान होते हैं। प्रथमदिवसे प्रथमः दिवसः (कर्मधा०) तस्मिन्, अधिकरणे सप्त०। आश्लिष्ट०=आ+√श्लिष्, दि० प० (चिमटना)+क्त। आश्लिष्टः सानु येन (बहु०व्री०) तम्। कनकवलय०=कनकस्य वलयः कनकवलयः (ष० तत्पु०) तस्य भ्रंशेन रिक्तः प्रकोष्ठः यस्य सः (ब० व्री)। वप्रक्रीडापरिणत=वप्रक्रीडासु परिणतः स चासौ गजः (कर्मधा०) स इव प्रेक्षणीयः उपमान-कर्मधा०। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' से समास हुआ। तं मेघम्।

१ प्रशमदिवसे वल्ल०।

प्रेक्षणीयम् प्र+√ईक्ष (भ्वा. आ.)+अनीय (कृत्यप्र०)। ददर्श=√दृश्, भ्वा० प० (देखना) लिट् प्र० पु० एक० ॥२॥

विशेष:—आषाढ़=इसके विषय में मल्लि० ने टीका में यह लिखा है—आषाढा नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमास्याषाढी (ङीप्)सा ऽऽषाढी अस्मिन्पौर्णमासीत्याषाढो मासः। इसके साथ अण् (अ) प्रत्यय तथा ङीप् (ई) प्रत्यय लगने से से क्रमशः 'आषाढ़:', 'आषाढी' ये शब्द इस नाम के महीने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। आषाढा नक्षत्र दो प्रकार का होता है–पूर्वा आषाढा तथा उत्तरा आषाढा।

प्रथमदिवसे—इससे यह बात प्रतीत होती है कि सम्भवतः कालिदास के समय में वर्षा आषाढ मास के प्रथम दिन से प्रारम्भ होती थी। ऋतुसंहार में वर्षा प्रारम्भ का यही समय बताया गया है। 'प्रथम-दिवसे' इसके स्थान में श्लोक सं०4 में 'प्रत्यासन्ने नभसि' इस पाठ की उपपत्ति के लिए 'प्रशमदिवसे' (अन्त के दिन) यह पाठान्तर है। इसके अनुसार 'प्रथमदिवसे' इस पाठ से सामान्यतः आषाढ़ और श्रावण दोनों महीनों की समीपता का बोध होता है, न कि इन महीनों के कुछ दिनों का। इस सम्बन्ध में मेघदूत (उ. मे.) के श्लोक ५० में (शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा—) कहे गए 'चतुरः मासान्' इन शब्दों का अक्षरार्थ न लेकर 'प्रायः चार महीने' अर्थ लेना चाहिए।

वप्रक्रीडापरिणत०–टीले से मिट्टी उखाड़ कर खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई देनेवाले। इसमें उपमा है। सम्भवतः यह उपमा इसलिए दी गई है, क्योंकि बादल कई प्रकार की विचित्र आकृतियों को धारण करता है; जैसे—हाथी, भैंसा, सूअर, बैल आदि। देखिए पार्श्व० 'महिषाश्च वराहाश्च मत्तमातङ्गरूपिणः'। वप्र का अर्थ किले के आस-पास की दीवार या कच्ची दीवार से है; सो 'वप्रक्रीड़ा' से सींगों या दाँतों द्वारा इस प्रकार की दीवार के साथ टक्कर मारने का अर्थ विवक्षित है। देखिए—रघु० सर्ग V श्लोक ४४—'निःशेषविक्षालितधातुनापि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु। नीलोर्ध्व—कुण्ठितेन॥ शिशु०IV, २९ 'परिणतदिक्करिकास्तटी बिभर्ति'। परिणत शब्द का 'एक पार्श्व से तिरछे होकर दाँतों द्वारा प्रहार करनेवाला हाथी' अर्थ है। देखिए–तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः। हलायुध II ६५। गज शब्द पृथक् आने से

प्रकृत पद्य में 'परिणत' शब्द विशेष्यता को छोड़कर केवल विशेषणता का ही प्रतिपादक है। 'गजप्रेक्षणीयम्' में उपमा वाचक इव शब्द का लोप होने से यह लुप्तोपमा है।

कनकवलयभ्रंश०--इसके लिए देखिए अभि० शाकु० III, १२ 'अनभिलुलितज्याघताङ्कं मुहूर्मणिबन्धनात्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥२॥

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः [1]कौतुकाधानहेतो-
रन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥३॥

अन्वयः--**राजराजस्य अनुचरः अन्तर्बाष्पः (सन्), कौतुकाधानहेतोः तस्य पुरः कथमपि स्थित्वा चिरं दध्यौ। मेघालोके (सति) सुखिनः अपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि जने दूरसंस्थे (सति) किं पुनः ॥३॥**

पदार्थः--राजराजस्य=कुबेर के। अनुचरः=सेवक ने। अन्तर्बाष्पः=अन्दर ही अन्दर आँसुओं को रोके हुए। कौतुकाधानहेतोः=उत्कण्ठा उत्पादन के कारणीभूत। कथमपि=किसी तरह, बड़े कष्ट से। दध्यौ=सोचा। मेघालोके=बादल के दीखने पर। सुखिनः अपि=सुखी (व्यक्ति) का भी। चेतः=चित्त। अन्यथावृत्ति=और ही वृत्तिवाला अर्थात् विकृत। भवति=हो जाता है। कण्ठाऽऽश्लेषप्रणयिनि जने=गले लगाने की अभिलाषावाले व्यक्ति के। दूरसंस्थे=दूर स्थित होने पर। किं पुनः= तो कहना ही क्या ॥३॥

भाषानुवादः--कुबेर का सेवक (यक्ष) भीतर ही भीतर आँसू रोके हुए, उत्सुकता पैदा कर देनेवाले उस बादल के सामने किसी तरह ठहर कर देर तक सोचता रहा। बादल के दिखाई देने पर सुखी (व्यक्ति) का भी चित्त विकृत (डावाँडोल) हो जाता है, फिर गले मिलने की अभिलाषावाले (व्यक्ति) के दूर स्थित होने पर तो कहना ही क्या ॥३॥

व्याकरणम्--राजराजस्य=राज्ञां (यक्षाणां) राजा (ष० तत्पु०) राजराजः; 'राजराजो धनाधिपः' इत्यमरः। 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इससे 'टच्' (अ) प्रत्यय हुआ। 'राजराज' के रूप राम की तरह चलेंगे। अन्तर्बाष्पः=अन्तः (अव्यय) स्तम्भितं बाष्पं (मध्यसपदलोपी समासः) यस्य सः (बहुव्री०)

१ केतका० सु० वि०, वल्ल० सा०, म० सि०, वि० तथा अन्य।

कौतुका०= कौतुकस्य आधानम् तस्य हेतोः (षष्ठी त०) आधान= आ+√धा, (जु० उभ०)+ल्युट् भावे आधानम् । स्थित्वा=√स्था, (भ्वा० प०)+क्त्वा । चिरम्=अव्यय । दध्यौ=√ध्यै (भ्वा० प०), लिट् प्र० पु० एक० । मेघालोके=मेघस्य आलोकः तस्मिन् सति सप्त० । आलोक=आ+√लोक्+घञ्, भावे । सुखिनः=सुखमस्य विद्यते इति सुखी तस्य, सुखिन् का ष० एक० । अन्यथावृत्ति=अन्यथा वृत्तिः अस्य (बहुव्री०), चेतः (नपुं०) का विशे० । कण्ठाश्लेषः=कण्ठस्य आश्लेषः तस्य प्रणय्+इनि (मत्वर्थे) तस्मिन् । दूरसंस्थे=दूरे संस्था (स्थितिः) अस्य बहुव्री० । संस्था–सम्+√स्था+अङ् भावे ॥३॥

विशेषः—कौतुकाधानहेतोः= यह पाठ 'केतकाधानहेतोः' इस पाठान्तर से अच्छा है, क्योंकि इससे प्रेमियों के हृदय में वर्षाकाल के आने से अधिक विकार पैदा होता है और बादल को देखकर एक दूसरे के प्रति उत्कण्ठा का भाव पैदा होना स्वाभाविक ही है । केतका० से वर्षा में केतकी के पौधे के प्रकट होने से उतनी उत्कण्ठा नहीं होती जितनी बादल को दीखने से । साथ ही इस पाठान्तर से आषाढ़ के प्रथम दिवस से जब कि वर्षा का प्रारम्भ होता है, कोई सम्बन्ध नहीं मिलता । मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा०—सारोद्धारिणी के अनुसार 'अन्यथावृत्ति' का अर्थ 'अस्वस्थम्' या 'प्रचलोत्कलिकाकुलम्' इस प्रकार है । देखिये–विक्रमोर्वशी, अंक IV–'एतेन पुनर्निवृत्तानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति' । और देखिए—ऋतु० II. १ 'समागतः.....घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये !' ॥३॥

① समीप आने पर

अथ समाहितान्तःकरणः सन् किं कृतवानित्यत आह—

② श्रावणमास के

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी[1]
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः[2] कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

अभिनव कहा

अन्वयः—सः (यक्षः) नभसि प्रत्यासन्ने दयिताजीविताऽऽलम्बनार्थी जीमूतेन स्वकुशलमयीं प्रवृत्तिं हारयिष्यन् प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै (जीमूताय) प्रीतः (सन्) प्रीति-प्रमुख-वचनं स्वागतं व्याजहार ॥४॥

१–लम्बानर्थं सु० वि०, म० सिं०, सारो० विल्स० । २–संप्रत्यग्रैः वल्ल० ।

पदार्थः—नभसि=श्रावणमास के। प्रत्यासन्ने=समीप आने पर। दयिता-जीवितालम्बनार्थी=प्रिया के जीवन के आलम्बन (धारण) के इच्छुक। जीमूतेन=बादल के द्वारा। स्वकुशलमयीम्=अपनी कुशल (को बतलाने) वाले। प्रवृत्तिम्= समाचार को। हारयिष्यन्=भेजना चाहता हुआ। प्रत्यग्रैः= अभिनव (ताज़े)। कुटजकुसुमैः=गिरिमल्लिका (पहाड़ी चमेली) के फूलों से। कल्पितार्घाय=जिसके लिए अर्घ (पूजा की सामग्री) तैयार की गई है। प्रीतिप्रमुखवचनं=प्रेमपूर्वक शब्दों में (क्रियाविशेषण)। स्वागतम्=शुभागमन। व्याजहार=कहा ॥४॥

भाषानुवादः—सावन के समीप आने पर प्रिया के प्राणों को सहारा देना चाहते हुए उस (यक्ष) ने मेघ द्वारा अपना कुशल-समाचार पहुँचाने की अभिलाषा से ताज़े चमेली के फूलों से अर्घ-सामग्री तैयार करके उस (मेघ) को प्रसन्न हो, प्रेम-पूर्वक शब्दों में "स्वागतम्" कहा ॥४॥

व्याकरणम्—प्रत्यासन्ने=प्रति+आ+ √सद् (भ्वा० प०)+कर्त्तरि, क्त, सति सप्तमी एकवचन। नभसि=नभस् (नपुं०) सप्तमी एक०। दयिता-जीविता०=दयिताया जीवितं (ष० तत्पु०) दयिताजीवितं तस्य आलम्बनं तस्य अर्थी, 'सः' का विशेषण। जीमूतेन=जीवनस्य उदकस्य मूतः पटबन्धः जीमूतः (पृषोदरादित्वात्साधुः)। स्वकुशल०=स्वस्य कुशलम् (ष० तत्पु०) तेन प्रकृतमिति स्वकुशल+मयट् स्त्रियाम्। हारयिष्यन्= √हृ (भ्वा० उभ०)+ णिच् (प्रेरणार्थक) भविष्यदर्थ में शत्रन्त, प्रथ० एक० 'सः' का विशेषण। प्रत्यग्रैः=अग्रं प्रतिगतः प्रत्यग्रः तैः। कल्पितार्घाय=कल्पितोऽर्घो यस्मै (बहुव्री०)। तस्मै=तद् (पु०) चतु० एक०। सम्प्रदाने चतुर्थी। प्रीतिप्रमुख०=प्रीतिप्र-मुखानि वचनानि यस्मिन् कर्मणि यथा तथा (बहुव्री०), क्रि० विशे०। स्वागतम्=सु (अव्यय)+आ+ √गम्+क्त, भावे आगतं, सुशोभनमागतम्। (नित्यकर्मधा०) व्याजहार=वि+आ √हृ (भ्वा० उभ०), लिट्, प्र० पु० एक० ॥४॥

विशेषः—प्रत्यासन्ने नभसि=श्रावणमास विरही प्रेमियों के लिए दुःख देने-वाला होता है। देखिए—श्लोक, ८ 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्'। निम्नलिखित उक्तियाँ भी देखिए—'शिखिनि कूजति गर्जति तोयदे स्फुरति जातिलताकुसुमाकरे। अहह पान्थ! न जीवति ते प्रिया नभसि मासि न

वासि गृहं यदि ।।' 'उपरि पयोधरमाला दूरे दयिता किमेतदापतितम् । हिमवति दिव्यौषधयः कोपाविष्टः फणी शिरसि ।।' मुद्रा० ।

कल्पितार्घाय=अर्घ्यते अनेन इति अर्घः । 'अर्घ' की व्युत्पत्ति √अर्ह् अथवा √अर्घ् से हुई है । 'अर्घ' किसी देवता, प्रतिष्ठित व्यक्ति या अतिथि विशेष को दिया जाता है। सामान्यतः इसमें निम्नलिखित वस्तुएँ होतीं हैं--'आपः क्षीरं कुशाग्राणि दधि सर्पिश्च तण्डुलाः । यवाः सिद्धार्थकं चैव अष्टांगार्घ्यं प्रकीर्तितम् ।।'

प्रीतिप्रमुख०—मल्लि० इसे क्रि० विशे० मानता है, पर सारोद्धारिणी में इसे 'स्वागतम्' का विशेषण मानकर इसकी यों व्याख्या की गई है--प्रीत्या प्रमुखं स्नेह-निर्भरं वचनं यत्र तत् स्वागतम् ।।४।।

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि [1]प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।।५।।

अन्वयः—धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः मेघः क्व ! पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः सन्देशार्थाः क्व ! इति औत्सुक्यात् अपरिगणयन् गुह्यकः तं ययाचे । हि कामार्ताः चेतनाचेतनेषु प्रकृतिकृपणाः (भवन्ति) ।।५।।

पदार्थः--धूमज्योतिः सलिल०=धूआँ, प्रकाश, जल और वायु का । संनिपातः=मिश्रण, मेल । पटुकरणैः प्राणिभिः=समर्थ इन्द्रियों-वाले प्राणियों द्वारा । प्रापणीयाः=पहुँचाए जाने योग्य । सन्देशार्थाः=सन्देश की बातें । इति=यह । औत्सुक्यात्=उत्कण्ठा के कारण । अपरिगणयन्=न विचारते हुए । गुह्यकः=यक्ष ने । ययाचे=प्रार्थना की । हि=क्योंकि । कामार्ताः=काम से पीड़ित । चेतनाचेतनेषु=सजीव और निर्जीव पदार्थों के प्रति । प्रकृतिकृपणाः=स्वभाव से दीन विवेक-रहित ।।५।।

भाषानुवादः—'कहाँ तो धूआँ, प्रकाश, जल और वायु इनका संमिश्रण रूप मेघ और कहाँ सशक्त इन्द्रियोंवाले प्राणियों द्वारा पहुँचाए जानेवाले सन्देश' इस (वात) को न विचारते हुए यक्ष ने उस (बादल) से प्रार्थना की; क्योंकि

१–प्रणय ।

काम से पीड़ित लोग जड़-चेतन पदार्थों के प्रति स्वभावतः दीन--विवेकशून्य हो जाया करते हैं ॥५॥

व्याकरणम्--धूमज्योति०=धूमश्च ज्योतिश्च सलिलं च मरुच्च (द्वन्द्व-समास) तेषां संनिपातः (ष०तत्पु०)। संनिपातः=सम्+नि+√पत् (भ्वा० प०)+घञ भावे। पटुकरणैः=पटूनि करणानि (इन्द्रियाणि) येषाम्, बहुव्री. तैः। प्राणिभिः का विशे०। प्रापणीयाः=प्र+√आप् (स्वा० प०)+ अनीय (कृत्य प्र०)। सन्देशार्थाः–सन्देशाः ते एव अर्थाः (कर्मधारय); भवन्ति लुप्त क्रिया का कर्त्ता। औत्सुक्यात्=उत्सुकस्य भावः औत्सुक्यम् तस्मात् कारणात्। अपरिगणयन्=न+परि+√गण्+अत् (शतृ)। ययाचे=√याच् (भ्वा०आ) लिट् लकार, प्र० पु० एक०। कामार्ताः=कामेन आर्ताः (तृ० तत्पु०)। प्रकृति-कृपणाः=प्रकृत्या कृपणाः (तृ० तत्पु०)। चेतनाचेतनेषु=चेतनाश्चाचेतनाश्च (द्वन्द्व) तेषु। गुह्यकः गुह्यं कुत्सितं कायति √कै=शब्दे+कः। गुह्यं गोपनीयं कं सुखं यस्येति वा। गूहति निधिं रक्षति, √गुह्+अक् (ण्वुल्)। यहाँ धातु और प्रत्यय के बीच 'य' अनियमित रूप से लगा है ॥५॥

विशेषः--क्व.......... क्व=द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। क्व...... क्व यह विषमालंकार का उदाहरण है। विषमालंकार में दो विषम वस्तुओं को बताया जाता है। देखि--रघु०I, २ 'क्व सूर्य-प्रभवो वंशः क्व चाल्प-विषया मतिः'। पुनः अभि० शाकु० I, १० 'क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते'। और देखिए इसी नाटक का II, १८ श्लोक 'क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः'। कुमार० में ५, ४ श्लोक में भी देखिए 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः'।

धूमज्योतिः सलिल०= इस पाद से हमें यह पता लगता है कि कवि कालि-दास भौतिक विज्ञान तथा रासायनिक विज्ञान से भी परिचित था। 'मेघ' के अवयव--धूआँ, ज्योति (अग्नि), जल तथा वायु बता कर अच्छा रासायनिक विश्लेषण दिखाया है, इस पंक्ति से हमें कवि का प्रकृति-निरीक्षण का उदाहरण भी मिलता है।

कामार्ता हि प्रकृति०=इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसमें सामान्य का विशेष अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। प्रस्तुत पद्य में विशेष का सामान्य से समर्थन किया गया है ॥५॥

जातं वंशे भुवनविदिते [1]पुष्करावर्तकानां इच्छानुसार रूप धारण करने वाले
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः । इन्द्र के
याचक अर्थित्व तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा[2] वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥ 1962

अन्वयः— (हे मेघ !) त्वां भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां वंशे जातं कामरूपं मघोनः प्रकृतिपुरुषं जानामि, तेन विधि-वशात् दूरबन्धुः अहम् त्वयि अर्थित्वम् गतः । अधिगुणे याच्ञा मोघा (अपि) वरम्, अधमे लब्धकामा (अपि) न वरम् ॥६॥

पदार्थः—भुवनविदिते=भुवनों में प्रसिद्ध । पुष्करावर्तकानाम्=पुष्कर और आवर्तकों के । इस पद के विशेष परिचय के लिये नीचे विशेष देखिए । कामरूपम् =इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले । मघोनः=इन्द्र के । प्रकृतिपुरुषम्=प्रधान पुरुष, सर्वे-सर्वा । विधिवशात्=भाग्यवश । दूरबन्धुः= दूरस्थित बन्धु (स्त्री) वाला । अर्थित्वं गतः=याचक बना हूं । अधिगुणे= अधिक गुणवाले (व्यक्ति) के प्रति । याच्ञा, याचना, प्रार्थना । मोघा अपि= निष्फल भी । वरम्=अच्छी । अधमे=नीच के प्रति । लब्धकामा=सफल हुई (पूरी की गई) ॥६॥

भाषानुवादः—(हे मेघ !) 'मैं जानता हूं कि तुम भुवनों में प्रसिद्ध 'पुष्कर' और 'आवर्तकों' के कुल में पैदा हुए हो, इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाले, इन्द्र के प्रधान-पुरुष हो; इसलिए भाग्यवश दूर-बन्धु (स्त्री) वाला मैं तुम्हारा याचक बना हूँ । अधिक गुणवाले (व्यक्ति) के प्रति की गई प्रार्थना निष्फल (हुई भी) अच्छी है, नीच के प्रति सफल (हुई भी) अच्छी नहीं ॥६॥

व्याकरणम्—भुवनविदिते=भुवनेषु विदिते, √विद् (अ०)+त (क्त) । जातम्=√जन् (दिवा० आ०) + क्त । कामरूपम्=कामकृतानि रूपाणि (मध्यमपदलोपी) यस्य (बहुव्री०) । मघोनः='मघवत्' शब्द का ष० एक० । शेषे षष्ठी, मह्यते पूज्यते असौ मघवा । प्रकृतिपुरुषम्=प्रकृतिषु पुरुषः (प्रधान-भूतः) (स० तत्पु०), अथवा प्रकृतिश्चासौ पुरुषश्च (कर्म० समास) । दूरबन्धुः= दूरे बन्धुर्यस्य सः (यक्षः), बहुव्री० । बध्नाति स्नेहेन हृदयमिति; √बन्ध् (क्र्या० प०, बाँधना)+उ । दूरः=दूरस्थः तादृशः बन्धुः । अर्थित्वम्=अर्थयते असौ

१—पुष्कला० का० पा० । २—वन्ध्या ।

अर्थी √अर्थ+इन् (णिनि)। गतः= √गम्, (भ्वा० प०) जाना+त (क्त) प्र० पु० एक०। अधिगुणे=गुणमधिगतः प्रादि तत्पु० अथवा अधि(अधिक) गुणो यस्य तस्मिन्। (बहुव्री०) याच्ञा=√याच्+न (नङ्)। लब्धकामा= लब्धः कामः यया सा, बहु० व्री० ॥६॥

विशेष:—पुष्करावर्तकानाम्=मल्लि० के अनुसार 'पुष्कर' और 'आवर्तक' से दो प्रकार की मेघों की श्रेष्ठ जातियों का बोध होता है। सारोद्धारिणी में इस पद की निम्नप्रकार से व्याख्या की गई है—'पुष्करं पानीयमावर्तयन्ति यथाकामं पृथिव्यां भ्रमयन्ति इति'। विल्सन (Wilson) महोदय का विचार है कि 'पुष्कर' और 'आवर्तक' ये नाम इसलिए पड़े हैं कि इन शब्दों से 'आवर्त' (जलभँवर) का बोध होता है। ब्रह्म पु० और पुराणसर्व० में इनके विषय में यह कहा है—'पुष्करा नाम ते मेघा बृंहतस्तोयमत्सराः। पुष्करावर्तकास्तेन कारणेनेह शब्दिताः। नानारूपधरास्ते तु महाधीरस्वनास्तथा। कल्पान्ते वृष्टिकर्तारः संवर्ताग्नेर्नियामकाः।' मोनियर विलियम के अनुसार 'पुष्करावर्तक' का पुंल्लि० बहु० में प्रयोग होता है और इनसे मेघों की उस जाति से अभिप्राय है जो मृत्यु और दुर्भिक्ष का कारण होती है। 'पुष्करावर्तकानाम्' के प्रयोग के लिए देखिए कु० स० II,५० 'तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु'; और देखिए वेणी० III, ५ 'छन्नं मेघैर्न गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः'। कहीं-कहीं 'पुष्कर' के स्थान में 'पुष्कल' ऐसा पाठान्तर मिलता है। 'रलयोरभेदः' इस नियम से 'र' को 'ल' होने से अर्थ में कोई भेद नहीं होता है।

याच्ञा मोघा वरमधिगुणे०=इस पाद में विशेष का सामान्य से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसी प्रकार के विचार के लिए देखिए–किरात० I, ८ 'समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' ॥६॥

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
संदेशं मे हर [1]धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

1961

अन्वयः—हे पयोद ! त्वं सन्तप्तानां शरणम् असि, तत् धनपतिक्रोध-विश्लेषितस्य मे सन्देशं प्रियायाः हर। ते यक्षेश्वराणां बाह्योद्यान-स्थित-हर-शिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या अलका नाम वसतिः गन्तव्या ॥७॥

१—धनपतेः।

(ई) प्रत्यय लगाने से 'आश्वसन्ती' रूप बना। फिर नदी के समान इसके रूप हुये। प्रेक्षिष्यन्ते=प्र+ईक्ष् (भ्वा० आ०), लृट् प्र० पु० बहु०।

संनद्धे=सम्+√नह (दिवा० प०)+क्त; सप्तमी एक०। विरहविधुराम्=विरहेण विधुरा ताम् (तृ० त०)। विधुरा=विगता धूः अस्या इति विधुरा (बहुव्री०)। त्वयि संनद्धे=सप्तमी (Locative absolute)। उपेक्षेत=उप+√ईक्ष् (भ्वा० आ०), विधिलिङ् प्र० पु० एक०। पराधीनवृत्तिः=परस्मिन्नधीना पराधीना वृत्तिर्यस्य (बहुव्री०) ॥८॥

विशेष:—आश्वसन्त्यः=पाणिनि–व्याकरण के अनुसार 'आश्वसन्त्यः' यह प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'श्वस्' अदादिगण का धातु है इसलिये अ विकरण (शप्) के लोप हो जाने से 'शप्श्यनोर्नित्यम्' से यहां नुम् (न्) न होकर 'आश्वसत्यः' यही होना चाहिये था, किन्तु काशिकाकार 'न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्' (महाभारत) "आश्वसेयुर्निशाचराः" (भट्टि०) इत्यादि उदाहरण देकर "आश्वसन्त्यः" का समर्थन करता हुआ अन्त में कहता है "निरङ्कुशाः कवयः"। माधव अपने धातुपाठ में कालिदास के 'आश्वसन्त्यः' का उदाहरण देकर कहता है कि गणकार्य अनित्य होता है, अतएव इस अदादिगण के 'श्वस्' धातु में 'शप् का लोप नहीं हुआ है। इन सब उदाहरणों में 'श्वस्' भ्वादिगण का ही माना गया है। कुछ प्रतियों में तो 'आश्वसत्यः' ऐसा पाठ मिलता है।

'संनद्धे' की सारोद्धारिणी में इस प्रकार व्याख्या है—'प्रकटितसुरधनु-स्तडिल्लतागर्जितादि-सामग्रीके,। देखिये विक्र० VI. १. 'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

विरहविधुराम्=क्षीरस्वामी 'विधुर' का विग्रह इस प्रकार करते हैं—'विघटिता धूः कार्यभारोऽस्य।'

इह श्लोक में, अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं, जिसका यह लक्षण है—'कार्यकारणसामान्यविशेषाणां परस्परम्। समर्थनं यत्र सोऽर्थान्तिरन्यास उदाहृतः ॥८॥

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहत[1]गतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यः[2]पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥९॥ ४.८

१–अविहित, २–पातप्रणयि।

अन्वयः--[हे मेघ ! त्वम्] दिवस-गणना-तत्पराम् [अतएव अव्यापन्नाम् एकपत्नीं तां भ्रातृ-जायाम् अविहितगतिः [सन्] अवश्यं द्रक्ष्यसि । आशाबन्धः प्रणयि, कुसुम-सदृशम् [अत एव] विप्रयोगे सद्यःपाति अङ्गनानां हृदयं प्रायशः रुणद्धि ॥९॥

पदार्थः—दिवस-गणना-तत्पराम्=अवधि के दिनों के गिनने में लगी हुई। अव्यापन्नाम्=न मरी हुई, जीवित। अविहतगतिः=बिना [किसी] रुकावट की गतिवाला, बे-रोकटोक जाता हुआ। भ्रातृजायाम्=भाई की पत्नी, भाभी [यक्ष बादल को अपना भाई समझता है]। आशाबन्धः=आशा का बन्धन, तन्तु। विप्रयोगे=वियोग में। सद्यःपाति=जल्दी ही गिर जाने वाले, शीघ्र ही टूट पड़नेवाले। प्रणयि=प्रेम से युक्त। प्रायशः=प्रायः। रुणद्धि=रोके रखता है-अर्थात् जीवित रखता है। सारोद्धारिणी में इसकी 'अवलंबते' तथा सुमतिविजय में 'धारयति' ऐसी व्याख्या की गई है ॥९॥

भावानुवादः— हे मेघ ! तू [अवधि के] दिनों के गिनने में लगी हुई [अत एव आशा में] जीवित [अपनी] पतिव्रता भाभी को बिना [किसी] रुकावट के जाता हुआ अवश्य देखेगा, क्योंकि आशा का तन्तु फूल की तरह [कोमल] [अत एव], शीघ्र ही टूट पड़ जाने वाले स्त्रियों के प्रेम भरे हृदय को प्रायः वियोग में रोके रखता है ॥९॥

व्याकरणम्–दिवसगणना०=दिवसानां गणनायां तत्परा ताम् [गणना √गण् चु० प०,+णिच्+युच् भावे] अव्यापन्नाम्=अ [नञ्]+वि+आ+√पद् [दिवा० आ०]+क्त स्त्री०, द्वि० एक०। एकपत्नीम्=एकः पतिः यस्या इति। एक+पति+ङीप्। √पत्+न+ङीप्। यहां 'न' 'और ङीप्' का प्रयोग 'नित्यं सपत्न्यादिषु' सूत्र से हुआ है। अविहतगतिः=न विहता गतिर्यस्य [बहु व्री०]। विहत--वि+√हन् [अ० प०]+त (क्त)। द्रक्ष्यसि = √दृश् [भ्वा० प०], लृट् लकार म० पु० एक। भ्रातृजायाम्=भ्रातुः जायाम् [ष० त०], 'जाया' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए देखिए—'पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' ॥ मनु० IX. ८। आशाबन्धः=आशायाः बन्धः [ष० तत्पु०] अथवा आशा एव बन्धः [कर्मधारय] कुसुमसदृशम्=कुसुमेन सदृशम् [तृ० तत्पु०]। अङ्गनानाम्=प्रशस्तानि अङ्गानि आसाम् इति अङ्गनाः तासाम्

यहाँ 'न' प्रत्यय 'अङ्गात् कल्याणे' इससे सुन्दर अङ्गों के अर्थ में है । विप्रयोगे-वि+प्र √युज् [रुधा० प०]+घञ् भावे तस्मिन् । सद्यःपाति=सद्यः पतितुं शील-मस्य। सद्यः- अव्य० पत् [भ्वा प०]+णिनि नपुं० प्र० ए० । रुणद्धि=√रुध् [रुधा० उभ०], √लट् लकार, प्र० पु० एक० ॥९॥

विशेषः—कुसुमसदृशम्=इसके लिए देखिए विक्र० I. ६. कुसुमसमबन्धनं हृदयम्'। और देखिए उत्तर०IV. १२. 'पुरंध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति'। आशाबन्धः=देखिए—मालती० IX. २६. 'आशातन्तुर्न च कथयताऽत्यन्तमुच्छेदनीयः, प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः'। और देखिए–उद्धवसन्देशः ४३ 'आशापाशैः सखि नवनवैः कुर्वती प्राणबन्धम्' । अभि० शाकु० IV में भी देखिए–'गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति' विक्र० III 'शक्यं खल्वाशाबन्धेनात्मानं धारयितुम्'।

अव्यापन्नाम्—इसका अर्थ है जो मरी नहीं अर्थात् जो यथा-तथा शरीर धारण किए हुए है, या जीवित है। यह साभिप्राय विशेषण है। इससे मन तथा शरीर की दुर्बलता व्यङ्ग्य है।

भ्रातृजायाम्—यक्ष मेघ को भाई समझता है, अतः उसने निज पत्नी को 'भ्रातृजाया' कहा है।

इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

मल्लि० के अनुसार 'तां चावश्यम्' यह श्लोक मन्दं मन्दम् वाले अगले श्लोक के अनन्तर आता है अर्थात् यह ९वाँ श्लोक है और वह १० वाँ। परन्तु मल्लि० का यों क्रम प्रकरणानुसार ठीक-सा नहीं लगता। कारण यह है कि यक्ष ने मेघ को उसकी यात्रा का आनुषङ्गिक फल पूर्ववर्ती श्लोक 'त्वामारूढम्' में 'पथिक-वनिताओं का आश्वासन' बताया है, इसलिये 'उसके अनन्तर मुख्य फल बताना भी आवश्यक ही है और वह है 'ताञ्चावश्यम्' में भ्रातृजाया का दर्शन। इस श्लोक का 'च' शब्द इन दोनों फलों का समुच्चायक है। मल्लि० ने व्याख्या करते समय इस 'च' का अर्थ ही नहीं बताया। यात्रा के दोनों फल बता देने के बाद 'शुभ शकुन' के दो श्लोक आते हैं 'मन्दं मन्दम्' और 'कर्तुं यच्च'। पहिले में 'अनुकूल वायु, एवं वामस्थित चातकनंदन और दूसरे में 'शिलीन्ध्रों का उद्भव एवं हंस'। इस तरह शकुन भी बता देने के बाद [आपृच्छस्व] रामगिरि से बिदा ले कर

यात्रा का मार्ग बताने के लिये 'मार्ग मत्त' ' श्लोक आता है । इसलिये प्रकरण-समन्वय की दृष्टि से 'त्वामारूढ़म्' और 'ताञ्चावश्यम्' । तदनन्तर, 'मन्दं मन्दम्' और 'कर्तु यच्च' यही श्लोक-क्रम उचित है । का० पा० का भी यही मत है। शारदारञ्जन राय और मोरेश्वर काले ने भी यही श्लोक-क्रम दिया है, जो हमने माना है ॥९॥

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः[1] ।
गर्भाधानक्षण[2]परिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते[3] नयनसुभगं[4] खे भवन्तं बलाकाः ॥१०॥

अन्वयः——अनुकूलः पवनः त्वां मन्दं मन्दं यथा नुदति । अयं सगन्धः चातकः ते वामः (सन्) मधुरं नदति । गर्भाधानक्षणपरिचयात् खे आबद्धमालाः बलाकाः नयन-सुभगं त्वां नूनं सेविष्यन्ते ॥१०॥

पदार्थः——मन्दं मन्दम्=धीरे-धीरे । यथा=अनुरूप, ठीक ही । नुदति=प्रेरणा करता है, ले जाता है । सगर्वः=अभिमानी । वामः=बायाँ, बांई ओर स्थित । नदति=शब्द करता है, बोलता है । गर्भाधान-क्षण-परिचयात्=गर्भ धारण करने (संभोग) के आनन्द के अभ्यास के कारण । खे=आकाश में । आबद्ध-मालाः=पंक्तियां बांधे हुए । नयन-सुभगम्=आँखों को सुन्दर लगने-वाले । बलाकाः=बक-स्त्रियाँ । नूनम्=अवश्य, सेविष्यन्ते=सेवा करेंगी पास पहुँचेंगी ॥ १० ॥

भाषानुवादः——अनुकूल पवन तुझे धीरे-धीरे ठीक ही ले जा रहा है; यह अभिमानी चातक तेरे बाँई ओर स्थित हो मीठा-मीठा बोल रहा है । गर्भाधान के आनन्द के अभ्यास के कारण आकाश में पङ्क्तियां बांधे हुए बगुलियां आँखों को सुन्दर लगनेवाले तेरे पास अवश्य पहुँचेंगी ॥१०॥

व्याकरणम्——मन्दं मन्दम्=यह 'भृशार्थ' में (अधिकता को सूचित करने के अर्थ में) द्विरुक्ति है । इसका अर्थ बहुत धीरे है । वामन का 'मन्दं मन्दमित्यत्र' प्रकारार्थे द्विर्भावः, यह कहना गलत है, क्योंकि यहां 'मन्दं मन्दं' से मन्द-सा वा कुछ

१–ते सगन्धः मल्लिना० । २–गर्भाधानक्षणपरिचयं, वि०, क्षम० स्थिर० । ३–प्रेक्षिष्यन्ते । ४–सुखदम् ।

मन्द अर्थ विवक्षित नहीं है। साथ ही 'प्रकारार्थे द्वित्वं कर्मधारयवत्' होता है, इसलिए यहां समास होने पर 'मन्द-मन्दं' होना चाहिए था न कि 'मन्दं मन्दम्'। इस प्रकार 'मन्द-मन्दं' का अर्थ बहुत धीरे-धीरे ही है। वामः=वामस्थः नुदति=√नुद् (प्रेरणा करना) [तुदा० प०], लट् प्र० पु० एक०। नदति ‖ √नद् (अव्यक्त शब्द करना) [भ्वा० प०], लट् प्र० पु० एक०। गर्भाधानक्षण०=गर्भस्य आधानं तदेव क्षणः (उत्सवः) तस्मिन् परिचयात्। आबद्धमालाः=आबद्धाः मालाः याभिः (बहुव्री०) ताः। नयनसुभगम्=नयनयोः सुभगः (शेषषष्ठ्या समासः) तम् सेविष्यन्ते=√सेव् (भ्वा०आ०) लृट् प्र० पु० एक० ॥१०॥

विशेषः—यथा=मल्लि० ने इसका अर्थ 'सदृश' 'ठीक' किया है, परन्तु सारोद्धारिणी और सुमतिविजय इसे श्लोक के पूर्वार्ध में आए हुए उपवाक्यों को उत्तरार्ध में दिए गए प्रधान-वाक्य के साथ जोड़ने वाले संयोजक 'ज्यों' के अर्थ में लेते हैं। ऐसा करने से श्लोकार्थ यों होगा—'ज्यों ही अनुकूल वायु तुझे धीरे-धीरे ले जायगा और यह अभिमानी चातक तेरे बांई ओर स्थित हो मीठा-मीठा बोलेगा, गर्धाधान रूपी आनन्द के अभ्यास के कारण आकाश में पङ्क्तियाँ बांधे हुए बगुलियाँ······· सेवा करेंगी'। वामश्चायम्—इस सम्बन्ध में विल्सन (Wilson) महोदय यह श्लोक देते हैं—'बर्हिणश्चातकाश्चाषा ये च पुंसंगिताः खगाः। मृगा वा वामगा दृष्टाः सैन्यसम्पद्बलप्रदाः।' मोर, चातक आदि पक्षियों का तथा हरिणों का बांई ओर से होकर जाना शुभ शकुन है।

सगर्वः=इसका पाठान्तर 'सगन्धः' है। गन्ध गर्व को कहते हैं। इसका दूसरा अर्थ 'सम्बन्धी' भी है जो इस स्थल में भी ठीक बैठता है, क्योंकि कविता की दृष्टि से 'बादल' और 'चातक' का परस्पर बड़ा सम्बन्ध है। देखिए—अभि० शाकु० V 'सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति'।

गर्भाधानक्षण०=इसका यह भी अर्थ हो सकता है—गर्भाधाने गर्भग्रहणावसरे क्षणं क्षणमात्रं परिचयः संगमः तस्मात् अर्थात् गर्भग्रहण के अवसर में क्षण भर के लिए ही मेल होने के कारण। सुमितिविजय ने इस अर्थ को माना है।

सेविष्यन्ते नयन०=देखिए V मृच्छ० २३ 'प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः (मेघः)। 'बलाका' का सदा स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है, अतः 'बलाका' का बकपत्नियाँ अर्थ है ॥१०॥

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रातपत्रां[1] ।
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः ।
आ कैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः (1)
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः ॥११॥

अन्वयः—यत् च महीम् उच्छिलीन्ध्रातपत्राम् कर्त्तुं प्रभवति, तत् श्रवण-सुभगं ते गर्जितं श्रुत्वा मानसोत्काः बिस–किसलय–च्छेद–पाथेयवन्तः राजहंसाः नभसि आ कैलासात् भवतः सहायाः सम्पत्स्यन्ते ॥११॥

पदार्थः—यत्=जो (गर्जित) । महीम्=पृथ्वी को। उच्छिलीन्ध्रातपत्राम्=उठी हुई (ऊपर प्रकट हुई)कन्दलिका(खुम्ब, छत्रक आदि) रूपी छत्रों वाली। कर्त्तुं प्रभवति=करने को समर्थ है। श्रवणसुभगम्=कानों को सुख देनेवाला। बिसकिसलय०=मृणाल (भिस) के अग्रभाग के टुकड़ों को मार्ग का भोजन बनाने वाले। नभसि आकाश में। आ कैलासात्=कैलास पर्वत तक। भवतः=तुम्हारे। सहायाः=साथ जानेवाले। "सहायस्तु सयात्रः स्यात्" इति शब्दार्णवे। सम्पत्स्यन्ते=हो जाएंगे ॥११॥

भाषानुवादः—जो पृथ्वी को उठी हुई कन्दलिकाओं (छत्रक, खुम्ब) रूपी छत्रों वाली बनाने में समर्थ है, उस कानों को सुख देनेवाले तुम्हारे गर्जन को सुनकर मानसरोवर के लिए उत्सुक, कमल–नाल (भिस) के अग्र-भाग के टुकड़ों को पाथेय (मार्ग का भोजन) बनाये हुए राजहंस कैलास तक तुम्हारे साथी बन जाएंगे ॥११॥

व्याकरणम्—कर्त्तुम्=√कृ (तना० उभ०) तुमुन्नन्त। उच्छिलीन्ध्राम्=उद्गतानि शिलीन्ध्राणि एव आतपत्राणि यस्याम् (बहुव्री०)। प्रभवति=प्र √भू 'होना' (भ्वा० प०), लट्, प्र०पु०एक०। श्रुत्वा=√श्रु 'सुनना' (भ्वा० प०) +क्त्वा। मानसोत्काः=मानसे सरसि उत्काः। 'उत्क उन्मनाः' इति निपातात्साधु। बिसकिसलय०=बिसस्य किसलयानि (ष०तत्पु०) तेषां छेदाः (ष० तत्पु०) एव पाथेयं, तदस्ति येषाम् इति। राजहंसाः का विशे०। पाथेयवन्तः=पथि साधु पाथेयं पथि भोज्यं तद्वन्तः। "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" । नभसि=नभस् शब्द नपुं०, सप्त० एक०। आ कैलासात्=आ निपात के योग में पञ्चमी का प्रयोग होता है। सम्पत्स्यन्ते=सम्+ √पद् 'जाना' (दिवा० आ०), लृट्

१–उच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां० मल्लि०।

(1) Provender

प्र० पु० एक० ॥११॥

विशेष:—उच्छिलीन्ध्राम् =उद्गतानि शिलीन्ध्राणि देखिए—हलायुध V. १५ 'छत्रके वृक्षजातौ च शिलीन्ध्रं स्मर्यते बुधैः। श्रवणसुभगं खे० =देखिए—ऋतु सं० II, ३ 'वलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः।'

मानसोत्काः—देखिए—विक्र० IV. १४ 'मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसाम्। कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरसिञ्जितम्।' और देखिए—उत्तरमेघ श्लोक १६ 'यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टम्' मानस झील के उद्भव के बारे में रामायण में इस प्रकार कहा गया है— 'कैलासशिखरे राम मनसा निर्मितं सरः। ब्रह्मणा प्रागिदं यस्मात्तदभून्मानसं सरः।' विल्सन (Wilson) के अनुसार यह झील हिमालय और कैलास के मध्य में स्थित है। कैलास पर्वत उत्तर की ओर हिमालय के समानान्तर स्थित है। यहां वर्षा-काल के प्रारम्भ में हंसों का विशेष निवास होता है। देखिए—उत्तरमेघ श्लोक १६ 'यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टम्। न स्थास्यन्ति व्यपगतशुच-स्त्वामपि प्राप्य हंसाः॥'

बिसकिसलयच्छेद०—देखिए—विक्र० IV. १५ 'पश्चात् सरः प्रतिगमिष्यसि मानसं त्वं पाथेयमुत्सृज बिसं ग्रहणाय भूयः' और देखिये—अभि०शाकु० II. 'तेन हि गृहीतपाथेयो भव'।

राजहंसाः =हंसविशेषाः; "राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः" इत्यमरः। हंसों का नीर क्षीर-विवेक प्रसिद्ध है। देखिये—पंच० कथामुख, 'हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्' और देखिये अभि० शाकु० VI. २८, 'हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः'।

आ कैलासात् =कैलास पर्वत हिमालय के उत्तर में स्थित है और इसे शिव तथा पार्वती का निवास-स्थान कहा जाता है। शिव के मित्र कुबेर का भी यहीं निवास है। इस सम्बन्ध में पूर्वमेघ के श्लोक ६० से ६२ और टीका देखिये ॥११॥

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥१२॥

अन्वयः––पुसां वन्द्यैः रघुपतिपदैः मेखलासु अङ्कितं तुङ्गम् अमुं प्रियसखं शैलम् आलिङ्ग्य आपृच्छस्व, काले काले भवतः संयोगम् एत्य यस्य चिर-विरहजम् उष्णं वाष्पं मुञ्चतः स्नेहव्यक्तिः भवति ॥१२॥

पदार्थः––पुंसाम्=लोगों के। वन्द्यैः=आराधना के योग्य, पूजनीय। रघुपतिपदैः=रामचन्द्रजी के चरणों (चरणन्यासों) से। मेखलासु=मध्य भाग में ढालू चट्टनों में। अङ्कितम्=चिह्नित, निशानोंवाले। तुङ्गम्=ऊँचे। प्रियसखम्=(अपने) प्यारे मित्र। अमुम्=इस। शैलम्=पर्वत (रामगिरि को। आलिङ्ग्य=गले लगाकर। आपृच्छस्व=जाने की आज्ञा लो, विदा लो। काले काले=प्रत्येक (वर्षा) काल में। संयोगम्=सम्पर्क (मेल) को। एत्य=पाकर। चिरविरहजं=देर के विरह से पैदा हुए। उष्णम्=गरम। बाष्पम्=आँसू । मुञ्चतः=छोड़ते हुए, बहाते हुए । स्नेह-व्यक्तिः=प्रेम का आविर्भाव ॥१२॥

भाषानुवाद––लोगों के आराधन-योग्य रामचन्द्रजी के चरणों (चरणन्यासों) से मध्य-भाग में चिह्नित हुए, ऊँचे इस (अपने) प्रिय मित्र पर्वत (रामगिरि) को आलिङ्गन करके (इससे) जाने की आज्ञा लो, जिसका कि प्रत्येक (वर्षा) काल में तुमसे भेंट होकर देर के विरह से उत्पन्न गर्म २ अश्रुजल को बहाते हुए (तुम्हारे लिए) प्रेम-प्रकाशन होता रहता है ॥ १२ ॥

व्याकरणम्––रघुपतिपदैः=रघूणां पतिः (ष० तत्पु०) तस्य पदानि तैः अनुक्ते कर्तरि तृतीया। रघुपति के रूप हरि शब्द के रूप के समान होंगे। समास के अन्त में पति शब्द आने से उसके रूप 'पतिः समास एव घिसंज्ञाः' इस नियम से हरिवत् होते हैं। आपृच्छस्व=आ+√प्रच्छ् (पूछना) तुदा० प०) लोट् म० पु० एक०। 'आ' उपसर्ग के योग में यह धातु 'आङि नु प्रच्छ्चोः' से आत्मनेपदी हो जाता है। भास ने स्व० वास० I में 'आपृच्छामि भवन्तौ' परस्मैपद का प्रयोग नियम विरूद्ध किया है। प्रियसखम्=प्रियश्चासौ सखा च (कर्म धा०) तम्। "राजाहः सखिभ्यष्टच्" इससे यह 'टच्' प्रत्ययान्त समास हुआ। इसके रूप सखि के समान न होकर 'राम' की तरह होंगे। आलिङ्ग्य=आ+√लिङ्ग् (जाना) (भ्वा० प०)+य (ल्यप्)। वन्द्यैः=√वन्द (भ्वा० आ०)+य (कृत्यप्र०) तृ० बहु०। काले काले= वीप्सायां द्विरुक्तिः। एत्य=√इ, (जाना) (अदा० प०)+य (ल्यप्)।

चिरविरहजम् =चिरविरहात् जातः चिरविरहजः तम् । मुञ्चतः =√मुच् (छोड़ना) (तुदा० प०)+अत्, ष० एक० । स्नेहव्यक्तिः =√स्निह्, (दिवा० प०) घ ् भावे स्नेहः । स्नेहस्य व्यक्तिः (वि+√अञ्ज्+क्तिन्, भावे), ष० तत्पु० ॥ १२ ॥

विशेषः—आपृच्छस्व =क्षीरस्वामी (अमरकोश III. २. ७) अपनी टीका में कहते हैं :—आपृच्छनम् =आङ् पूर्वः प्रच्छिरालिङ्गनादिनानन्दनार्थः, यथा–आपृच्छस्व प्रियसखममुम् । एवं √प्रच्छ् का 'आ' उपसर्ग के साथ गले लगकर प्रसन्न होना, आदर करना, जाने की आज्ञा लेना, बिदा लेना अर्थ है ।

भवतो यस्य संयोगमेत्य =सुमति–विजय ने 'यस्य' को 'संयोग' के साथ तथा 'भवतः' को 'स्नेहव्यक्तिः' के साथ मिलाया है, जिसका यह अर्थ हुआ 'जिस (पर्वत) को मिलकर तुम्हारा......प्रेम प्रकाशन होता रहता है।' परन्तु मल्लि० द्वारा किया गया अर्थ ही अच्छा है, क्योंकि ग्रीष्म से तपे हुए पर्वतों से ही प्रथम वर्षा में गर्म जल टपकता है न कि मेघ से । अतएव 'चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्' इस स्थान पर वल्लभ कहता है—'पर्वता हि जलवृष्ट्या स्निग्धा भवन्ति वाष्पं च मुञ्चन्ति' ॥ १२ ॥

मार्गं तावच्छृणु[1] कथयतस्त्वत्प्रयाणानु[2]रूपं
संदेशं मे तदनु जलद ! श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्[3] ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य[4] ॥१३॥

अन्वयः—(हे) जलद ! तावत् कथयतः (मत्तः) त्वत्प्रयाणानुरूपं मार्गं शृणु, यत्र खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य, क्षीणः क्षीणः स्रोतसां परिलघु पयः उपभुज्य च गन्तासि; तदनु श्रोत्रपेयं मे सन्देशं श्रोष्यसि ॥ १३ ॥

पदार्थः–तावत् =अब, पहले । त्वत्प्रयाणानुरूपम् =तुम्हारी यात्रा के अनुकूल । यत्र =मार्ग में । खिन्नः खिन्नः =थक-थककर । शिखरिषु =पर्वतों पर । पदं न्यस्य =पैरों को रख कर [विश्राम करके] । क्षीणः क्षीणः =बार-बार दुर्बल हुआ । स्त्रोतसाम् =नदियों का । परिलघु =हल्का । पयः =जल । उपभुज्य =

१–मत्तः शृणु, का० पा० । २–अनुकूलम् । ३–श्रव्यबन्धम् का० पा० । ४–चोपयुज्य का० पा० आदि ।

उपभोग करके, पी करके। गन्तासि=जायगा। तदनु=फिर [मार्ग सुनने के बाद] । श्रोत्रपेयम्=कानों द्वारा पीए जाने योग्य अर्थात् अतितृष्णा से सुनने योग्य। सन्देशम् श्रोष्यसि=सन्देश सुनेगा ॥१३॥

भावानुवादः—हे मेघ पहले [मुझसे] अपनी यात्रा के अनुकूल मार्ग सुन ले, जो कि मैं कहता हूं और जिसमें थक-थककर [तू] पर्वतों पर विश्राम करके एवं बार-बार दुर्बल हुआ नदियों के हल्के जल का उपभोग करके जायगा; तब कानों को प्रिय लगनेवाले मेरे सन्देश को सुनेगा ॥१३॥

व्याकरणम्–जलद=जलं ददातीति जलदः। जलम्+√दा [जु० उ० प०] +क सम्बो० जलद ! कथयतः=√कथ् [कहना] [चुरा० उभ०]+अत् ष० एक०। त्वत्–प्रयाणानुरूपम्=तव प्रयाणं तस्य अनुरूपः तम् [ष० तत्पु०] प्रयाणम् प्र+√या [अ० प० प०] अन् [ल्युट्] रूपस्य सदृशो योग्यो वा अनुरूपस्तम्। शृणु=√श्रु [सुनना] [भ्वा० प०], लोट् म० पु० एक०। खिन्नः खिन्नः="नित्यवीप्सयोः" इति नित्यार्थे द्विर्भावः। खिन्नः√खिद् [दुःखी होना], [तुदा० प०],+न (क्त) शिखरिषु=शिखरिन् का स० बहु०। न्यस्य=नि+√अस् [फेंकना] [दिवा० प०]+य [ल्यप्]। क्षीणः क्षीणः=यहां भी कृदन्त होने से पहले के समान द्विरुक्ति है। क्षीणः√क्षै (नाशहोना) भ्वा० प०]+न (क्त)। गन्तासि=√गम् (जाना) [भ्वा० प०], लुट्, म० पु० एक। श्रोत्रपेयम्=श्रोत्राभ्यां पेयं, श्रूयते अनेन इति√श्रु+ष्ट्रन्—श्रोत्रम्। (तृ० तत्पु०)। पेयम्=√पा (पीना) भ्वा० प०+य (कृत्यप्र० कर्मणि) श्रोष्यसि=√श्रु [भ्वा० प०], लृट, म० पु० ए०। परिलघु=परि अतिशयेन लघु प्रादि तत्पु०, पयः का विशे०। स्त्रोतसाम् =स्त्रोतस् (नपु०) का ष० बहु०। उपभुज्य=उप+√भुज् (खाना) [रुधा० उभ०] +य (ल्यप्)। तदनु=तत्+अनु। यहां 'अनुर्लक्षणे' इस सूत्र से कर्म प्रवचनीय है। फिर अनु के योग में "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" से तत् में द्वितीया हुई ॥१३॥

विशेषः—'मार्गं तावत्' का पाठान्तर 'मार्गं मत्तः' है 'मत्तः' का अर्थ 'मुझ से' है।

श्रोत्रपेयम्=इसका पाठान्तर 'श्रव्यबन्धम्' है जिसका अर्थ 'जिस (सन्देश) का शब्द विन्यास (कानों को) तृप्त करनेवाला है। इस पाठार्थ का 'श्रोत्रपेयम्'

वाले पाठार्थ से विशेष भेद नहीं है ॥१२॥

'उपभुज्य'=का पाठान्तर 'उपयुज्य' है जो कि अर्थ में समान ही है।

परिलघुपयः=मल्लि० ने परिलघु का अर्थ 'गुरुत्वदोषरहितम्' किया है। परि अतिशय का बोधक है। पहाड़ी नदियों का पानी पत्थरों के टकराने के कारण बहुत हल्का हो जाता है और हल्का पानी स्वास्थ्य के लिए बड़ा अच्छा कहा गया है। देखिए—वाग्भट "उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः" ॥१३॥

अद्रेः शृङ्गं हरति[1] पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं[2] मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्[3] ॥१४॥

अन्वयः—पवनः अद्रेः शृङ्गम् हरति किंस्वित् इति उन्मुखीभिः मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः चकित चकितम् दृष्टोत्साहः (त्वम् सरसनिचुलात् अस्मात् स्थानात् पथि दिङ्नागानाम् स्थूलहस्तावलेपान् परिहरन् उदङ्मुखः (सन्) खम् उत्पत ॥१४॥

पदार्थः—अद्रेः=पहाड़ की। शृङ्गम्=चोटी को हरति=ले जाता है। किंस्वित्=क्या ? उन्मुखीभिः=ऊँचे मुख किए हुए। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः=भोली भाली सिद्धों की स्त्रियों के द्वारा। चकित-चकितम्=बहुत आश्चर्य से। दृष्टोत्साहः=देखे गए उत्साहवाला। सरसनिचुलात्=गीली स्थल की बेंतों से युक्त। पथि=मार्ग में। दिङ्नागानाम्=दिशाओं के हाथियों के। स्थूलहस्तावलेपान्=बड़ी-बड़ी सूंड़ों के प्रहारों को। परिहरन्=छोड़ता हुआ (उनसे) बचता हुआ। उदङ्मुखः=उत्तर की ओर मुख किये हुए। खम्=आकाश को। उत्पत=उड़ जाना ॥१४॥

भाषानुवादः—क्या पवन पर्वत की चोटी को [उड़ाए] ले जा रहा है ? इस [विचार] से ऊपर मुंह किये हुए भोली-भाली सिद्धों की स्त्रियां बड़े आश्चर्य से तेरा उत्साह देखेंगी। तू गीली निचुलों [स्थल की बेंतों] वाले इस स्थान से दिग-गजों [दिशाओं के हाथियों] के बड़ी-बड़ी सूंड़ों के प्रहारों से बचता हुआ उत्तर दिशा की ओर मुख किये हुए आकाश में उड़ जाना ॥१४॥

१—वहति वल्ल०। २—दृष्टोच्छ्रायः वल्ल०, वि०। ३—अवलेहान्।

व्याकरणम्—अद्रेः=अद्रि का ष० एक०। हरति=√हृ [ले जाना] (भ्वा० उभ०)। लट्, प्र०पु० एक०। किंस्वित्=[अव्यय] किंस्विच्छब्दो वितर्केऽर्थे। उन्मुखीभिः=उद्=ऊर्ध्वं+ मुखं यासां ताः ताभिः (बहुव्री०)। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः=मुग्धाभिः सिद्धानामङ्गनाभिः [ष० तत्पु०]। दृष्टोत्साहः=दृष्ट उत्साहो यस्य सः [ब०व्री०]। दृष्ट = √दृश् [देखना] [भ्वा०प०] + क्त। उत्साहः=उत् + √सह् + घञ् भावे। चकित चकितम्="प्रकारे गुणवचनस्य" इति प्रकारार्थे द्विर्भावः। सरसनिचुलात्= सरसा निचुलाः अस्मिन् [ब० व्री]। स्थानात् का विशे०। दिङ्नागानाम्=दिशां नागाः [हस्तिनस्तेषाम्] ष० त० स्थूलहस्तावलेपान्= स्थूला ये हस्ताः तेषाम् अवलेपान्। परिहरन्=परि+√हृ [ले जाना] (भ्वा०उभ०),+ अत्, प्र० एक०। उदङ्मुखः= उदङ्, उत्+अञ्चु [जाना] [भ्वा० प०] क्विन्। उदङ् मुखं यस्य सः। उत्पत=उत्+√पत् [गिरना] (भ्वा० प०), लोट्, म० पु० एक० ॥१४॥

विशेषः—मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में श्लेष द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागाचार्य के प्रति संकेत करता हुआ अपनी काव्य कला को सम्बोधित करके कहता है, यह व्यङ्गयार्थ है ॥१४॥

पदार्थः—पवनः=वायु जैसी तीव्रगति। अद्रेः=पहाड़ जैसे ऊँची कोटि के विद्वान् [दिङ्नाग] की। शृङ्गम्= शृङ्गसी ऊँची प्रतिभा को। हरति किंस्वित् ?= हर लेती है, पछाड़ देती है क्या ? उन्मुखीभिः =अचम्भित हो ऊपर मुंह किये हुए। मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः= प्रसन्न हुए सिद्ध [निपुण] कवियों तथा स्त्रियों द्वारा। दृष्टोत्साहः= देखे गये उत्साहवाला। सरस-निचुलात्= जहाँ रसिक निचुल [इस नाम वाला तुम्हारा प्रशंसक] रहता है। दिङ्नागानाम्= दिङ्नागाचार्य जी के [आदर–अर्थ में बहुवचन] स्थूलहस्तावलेपान्= हाथसे निर्देश किये गये मोटे २ दोषों को। परिहरन् =छोड़ते हुए। खम्= कल्पना के आकाश में, कल्पनालोक में। उत्पत= चढ़ जाओ, उड़ जाओ ॥१४॥

भावानुवादः—'[हे मेरी कविते !] तेरी तीव्र गति उच्चकोटि के विद्वान् दिङ्नागाचार्य की ऊँची प्रतीभा को [भी] पछाड़ गई है क्या ? इस अचम्भे में मुंह बाए प्रसन्न हुए सिद्ध कवि लोग एवं [उनकी] पत्नियां तेरे उत्साह को देखेंगी। तू इस स्थान से — जहाँ तेरा प्रशंसक सहृदय निचुल रहता है, दिङ्नागाचार्य द्वारा हस्त-निर्देश पूर्वक बताए गये [अपने] मोटे-मोटे दोषों को

त्यागती हुई खड़े-मस्तक हो कल्पनालोक में उड़ जा ।।१४।।

व्याकरणम्—[उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ का] मुग्ध–सिद्धाङ्गनाभिः= मुग्धाः [प्रसन्नाः] ये सिद्धाः [सिद्धकवयः] अङ्गनाश्च ताभिः। स्थूलहस्तावलेपान्= स्थूला ये हस्तनिर्दिष्टा अवलेपाः [मध्यम पदलोपी समास] तान्। अवलेपाः दोषाः [अवलेपस्तु गर्वः स्याल्लेपनं दूषणेऽपि च'–इति विश्वः]।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि निचुल के विषय में, जिसे कालिदास का सहाध्यायी कहा गया है, हमें मल्लिनाथ के कथन के अतिरिक्त और कुछ परिचय प्राप्त नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार उसका नाम 'निचुल' इसलिए पड़ा कि उसने निचुल [स्थल बेंत] पर यह कविता रची थी–– 'संसर्गतो दोषगुणा भवन्तीत्येतन्मृषा येन जलाशयेऽपि। स्थित्वाऽनुकूलं निचुलश्चलन्तमात्मानमारक्षति सिन्धुवेगात्'। दिङ्नागाचार्य प्रसिद्ध बौद्ध लेखक था। इसने 'प्रमाण–समुच्चय' नामक एक ग्रंथ लिखा है। इस पुस्तक पर धर्म कीर्ति ने जो अन्य बौद्ध लेखक है, वार्तिक लिखे हैं। कुमारिल ने इन दोनों लेखकों की समालोचना की है। दिङ्नाग के कालिदास का समकालीन होने का प्रमाण दक्षिणावर्त नाथ से, जो कि मल्लिनाथ से पहले का टीकाकार है— विदित होता है; परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ किस दिङ्नाग से अभिप्राय है, क्योंकि साहित्य-जगत् में इस नाम के कई कवि हुए हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् दिङनाग को कालिदास का समकालीन नहीं मानते। इस सम्बन्ध में प्रो० मेकडोनल [Mac. Donell] का यह कथन है–– 'यह विचार अत्यधिक सन्देहास्पद है। फिर यह भी तो अनिश्चित है कि मल्लिनाथ का बौद्ध आचार्य दिङनाग से ही अभिप्राय है। तीसरे-बौद्धमतानुसार यह कहना कि दिङनाग वसुबन्धु का शिष्य था––इस बात पर कुछ महत्त्व नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह कथन सोलहवीं शताब्दी तक निर्धारित नहीं किया जा सका। चौथे––वसुबन्धु छठी शताब्दी में हुआ––इस बात की पुष्टि विशेषतः विक्रमादित्यवाले सिद्धान्त पर आधारित है और यह चीन वालों के इस प्रमाण के विरुद्ध है कि वसुबन्धु की कृतियों का चीनी भाषा में ४०४ ई० में अनुवाद किया गया।' इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नहीं कि स्वयं कालिदास को मल्लिनाथ द्वारा दिया गया अर्थ विवक्षित है। फिर यदि 'स्थूलहस्तावलेपान्' का अर्थ "हस्त-संकेत द्वारा दर्शाए गए प्रधान-प्रधान दोषों को" मान भी लिया जाय,

तो भी 'दिङ्नागानाम्' में प्रयुक्त बहुवचन सर्वथा अनुपपन्न प्रतीत होता है, क्योंकि दिङ्नाग जो कि कवि का कविता-क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वी था और जिसने कालिदास को 'स्थूलहस्तावलेपान्' बताये हैं, उसके प्रति बहुवचन द्वारा आदर भाव दिखाना संभव प्रतीत नहीं होता। श्री शारदारञ्जन राय के अनुसार 'निचुल' कवि की अपनी ही उपाधि थी, जिसे उसने 'संसर्गतो'--इत्यादि ऊपर कहे श्लोक रचने पर प्राप्त किया था।

सिद्ध=$\sqrt{}$सिध् (जाना) (भ्वा० प०)+त (कर्तरि)। सिद्धों में दैवी शक्ति होती है। ये देव-योनि के हैं और सूर्य्य तथा पृथ्वी के मध्य-भाग में रहते हैं। इनमें निम्न प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं--'अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः'।

दिङ्नागानाम्=आठ दिशाओं के अधिष्ठातृ-रूप हाथियों के ये नाम हैं--'ऐरावतः पुंडरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः, पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः।' अमर० I १। उत्तर दिशा का अधिष्ठाता एक ही गज है तो यहाँ 'दिङ्नागानाम्' इस बहुवचन के समर्थन में सारोद्धारिणी का कथन है-बहुत्वमेवात्र विवक्षितं यदम्बुदं प्रति यक्षशिक्षेयम्। दिगन्तराणि परिहृत्य त्वयोत्तरैव हरित् तूर्णं गन्तव्येति भावः।

अद्रेः--इससे निःसन्देह रामगिरिपर्वत अभिप्रेत है न कि 'चित्रकूट' जैसा मल्लिनाथ का विचार है। देखिए श्लोक संख्या १ का 'विशेष' भाग।

स्थूलहस्तावलेपान्=सुमतिविजय ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—'पुष्टशुंडादण्डस्पर्शान्' सारोद्धारिणी के अनुसार 'पीवरकराघातान्' है।

दृष्टोत्साहः=इसका पाठान्तर 'दृष्टोच्छ्रायः' (दृष्ट उच्छ्राय उन्नतिर्यस्य) भी अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि मेघ ऊँचाई के कारण ऊपर मुख किए हुए सिद्धों की स्त्रियों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित करता है ॥ १४ ॥

रत्नच्छाया[1]व्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते[2] ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥१५॥

अन्वयः—रत्न-च्छाया-व्यतिकर इव प्रेक्ष्यम् आखण्डलस्य एतत् धनुः-

१—रत्नच्छाय०, का० पा०। २—आलप्स्यते, वि०।

खण्डम् पुरस्तात् वल्मीकाग्रात् प्रभवति, येन (धनुःखण्डेन) ते श्यामम् वपुः स्फुरित-रुचिना बर्हेण गोपवेषस्य विष्णोः (श्यामम् वपुः) इव अतितराम् कान्तिम् आपत्स्यते ॥१५॥

पदार्थः—रत्नच्छायाव्यतिकर इव=रत्नों की कान्तियों का सम्मिश्रण सा। प्रेक्ष्यम्=दिखाई देने वाला। पुरस्तात्=सामने। वल्मीकाग्रात्=बांबी (दीमकों की पहाड़ी) के ऊपर से। आखण्डलस्य=इन्द्र का। धनुःखण्डम्=धनुष का टुकड़ा। प्रभवति=प्रकट हो रहा है (निकल रहा है)। ते=तेरा। वपुः (नपुं०, प्र० एक०)=शरीर। स्फुरित-रुचिना=चमकती हुई कान्तिवाले। बर्हेण=मोर के पंख से। गोपवेषस्य=गोपाल वेष धारण किए हुए। विष्णोः=कृष्ण के। अतितराम्=बहुत अधिक। कान्तिम्=शोभा को। आपत्स्यते=प्राप्त करेगा ॥१५॥

भाषानुवादः—रत्नों की कान्तियों का सम्मिश्रण सा दिखाई देने वाला यह इन्द्र-धनुष का टुकड़ा सामने बाम्बी के अग्रभाग (ऊपर) से निकल रहा है, जिससे तेरी साँवली देह इस तरह अत्यधिक चमक उठेगी जिस तरह चमकीली कान्ति वाले मोर के पंखों से गोपवेषधारी विष्णु (कृष्ण) की (साँवली देह) ॥१५॥

व्याकरणम्—रत्नच्छाया०=रत्नानां छायानां व्यतिकरो मिश्रणम्। व्यतिकर=वि+अति+√कृ√अप् भावे। प्रेक्ष्यम्=प्र+√ईक्ष् (भ्वा० आ०]+य। धनुः का विशे०। आखण्डलस्य=आ समन्तात् खण्डयति पर्वतान् आखण्डलः तस्य। आ+√खण्ड् (चुरा० प०)+अल (कलच्)। पुरस्तात्=पूर्वस्यां दिशि इति अस्ताति स्वार्थे। यहाँ 'पूर्व' पुर में 'अस्ताति च' में बदल गया है। स्फुरितरुचिना=स्फुरिता रुचिर्यस्य (ब० व्री०)। गोपवेषस्य=गाः पाति इति गोपः, गोपस्य वेषो यस्य स तस्य (ब० व्री०)। धनुःखण्डम्=इसकी जगह वल्लभ ने 'धनुष्खण्डम्' यह पाठ दिया है और इसका समर्थन पाणिनि के सूत्र "नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य" (VIII. ३. ४१), से किया है, परन्तु चन्द्रगोमिन् ने 'समासेऽनुत्तरस्य' (VI. ४..३) इस सूत्र में 'नित्य' को छोड़ दिया है और वह 'धनुःखण्डम्' इस रूप को स्वीकार करता है। यही पाठ मल्लि० तथा अन्य टीकाकारों ने दिया है। अतितराम्=अति+तरप्+आम् (तुलनात्मकप्रत्यय) यह शब्द 'कान्तिम्' का विशेषण है। इसे 'आपत्स्यते, का क्रिया वि० भी मान लिया जा सकता है। आपत्स्यते=आ+√पद् (दिवा० आ०), प्राप्त

करना, लृट्, प्र० पु० एक० ॥१५॥

विशेष:--रत्नच्छायव्यतिकरः=यह पाठ भी उचित प्रतीत होता है। 'छाया बाहुल्ये' २।४।२२ इस सूत्र से रत्न-बाहुल्य के कारण रत्नानां छाया इति रत्नच्छायम् यह छायान्त तत्पुरुष नपुंसक बन जाता है। पुरस्तात्=सारोद्धारिणी और सुमति विजय इसकी व्याख्या 'पूर्वस्यां दिशि' इस प्रकार करते हैं।

बल्मीकाग्रात्=इस पर सारोद्धारिणी टीका यों है--"इन्द्रचापं किल वल्मीकान्तर्व्यवस्थितमहानागशिरोमणिकिरणसमूहात्समुत्पद्यते।" सारो० ने वल्मीक का अर्थ 'सातपो मेघः' किया है, परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। वराहमिहिर ने इन्द्रधनुष की उत्पत्ति इस प्रकार कही है--'सूर्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः साभ्रे वियति धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः। केचिदनन्तकुलोरगनिश्वासोद्भूतमाहुराचार्याः।'

गोपवेषस्य--पौराणिक कथा के अनुसार विष्णु दसवें अवतार के रूप म बाल्यावस्था में गोपाल थे। इसका वर्णन हरिवंश और भागवत पुराण में आया है।

आपत्स्यते=विल्सन ने इसका पाठान्तर आलप्स्यते दिया ह, किन्तु उसका अर्थ 'प्राप्त करेगा' नहीं बनेगा, क्योंकि आ+लभ् का अर्थ मारना होता है, देखो अमरकोश "आलम्भ-पिञ्ज...वधा अपि" १८।११५; २ पूर्वमेघदूत ४७।

इस श्लोक में पूर्णोपमा अलंकार है ॥१५॥

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः[1]
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यःसीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय[2] एवोत्तरेण ॥१६॥

अन्वयः--कृषिफलम् त्वयि आयत्तम् (इति) हेतोः भ्रूविलासाभिज्ञैः प्रीतिस्निग्धैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः (सन्) मालं क्षेत्रम् सद्यः सीरोत्कषण-सुरभि (यथा स्यात् तथा) आरूह्य किंचित् पश्चात् व्रज, भूयः लघुगतिः (सन्) उत्तरेण एव (व्रज) ॥१६॥

पदार्थः--कृषिफलम्=खेती का फल (अन्न)। त्वयि=तुम पर। आयत्तम्=अवलम्बित, निर्भर है। भ्रूविलासानभिज्ञैः=भौंहों के विलास से

१-भ्रूविकारानभिज्ञैः मल्लि०। २-किञ्चिदेवोत्तरेण वि०।

अपरिचित, भोलीभाली । चितवनवाली । प्रीतिस्निग्धैः=प्रेम से सनी हुई। जनपदवधूलोचनैः=ग्रामीण स्त्रियों की आँखों से। पीयमानः=पीया जाता हुआ, अर्थात् देखा जाता हुआ। मालम् क्षेत्रम्=मालनामक क्षेत्र (पठार) पर। सद्यः=शीघ्र ही। सीरोत्कषणसुरभि=जिससे कि हलके चलाने से सुगन्धि पैदा हो जाय उस तरह। आरुह्य=चढ़कर। किंचित् पश्चात्=कुछ पश्चिम को अथवा पीछे को। व्रज=जाना। लघुगतिः (सन्)=शीघ्र गतिवाला (होता हुआ) ॥१६॥

भाषानुवादः--खेती का फल (अन्नादिक) तुम पर निर्भर है--इस कारण ग्रामीणस्त्रियों की भौहों के विलास से अपरिचित प्रेमभरी आँखों से देखे जाते हुए (तुम 'माल' नामक पठार पर शीघ्र ही यों चढ़कर जिससे कि हल चलाने से सुगन्धि पैदा हो जाय, कुछ पश्चिम को जाना; फिर शीघ्र गतिवाले (होते हुए) तुम उत्तर की ओर (मुड़ जाना) ॥१६॥

व्याकरणम्--आयत्तम्=आ+यम् (वश में होना), [भ्वा० प०]+क्त। भ्रूविकारानभिज्ञैः=भ्रुवोः विलासाणाम् अनभिज्ञैः। न अभिज्ञानि अनभिज्ञानि (लोचनानि) तैः। प्रीतिस्निग्धैः=प्रीत्या स्निग्धैः (तृ० तत्पु०)। जनपदवधू०= जनपदस्य वधूनां लोचनैः (ष० तत्पु०) पीयमानः=$\sqrt{}$पा (पीना)। (भ्वा० प०), कर्मणि+शानच्। सद्यः=अव्यय। सीरोत्कषण०=सीरैर्हलैरुत्कषणेन सुरभि यथा यात्तथा; यह आरुह्य का क्रि० वि० है। वल्लभ इसे 'क्षेत्रं' का विशे० लेते हैं, परन्तु सारोद्धारिणी और सरस्वतीतीर्थ 'सीरोत्कषण. . . . . क्षेत्रम्' एक पद मान कर इसे 'मालम्' की विशेषता बतलाने वाला बहुव्रीहि समास समझते हैं। इसका अर्थ इस प्रकार ह—'जिस माल नाम के देश में हल चलाने से खेतों में सुगन्धि आ रही है।' यह अन्तिम अर्थ अच्छा प्रतीत होता है। किंचित् पश्चात्= 'मनाक् पश्चिमभागेन' (सरस्वती तीर्थ), 'मनाक् पश्चिमभागाश्रितम्' (सारो०)। वल्लभ इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं--'किंचिन्मनागारुह्य पश्चादनन्तरम्' ॥१६॥

विशेषः--भ्रूविलासानभिज्ञैः=भ्रुवोः विलासाः तेषामनभिज्ञैः। देखिए— भट्टि० II. १५ 'स्त्रीभूषणं चेष्टितमप्रगल्भं चारूण्यवक्राण्यपि वीक्षितानि ऋजूंश्च विश्वासकृतः स्वभावान् गोपाङ्गनानां मुमुदे विलोक्य'।

पीयमानः=इसका अर्थ उत्कण्ठा भरी आँखों से इस प्रकार देखना जैसे आँखों

द्वारा पी लिया गया हो। देखिए—रघु० II. १९ 'पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्ति-रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्' और देखिए–'ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यः'।

मालम् =मल्लि० और सरस्वती० इसका अर्थ 'उन्नतभूतलं' (पठार) करते हैं, परन्तु सुमति-विजय इसका 'मालाख्यं देशम्' यह अर्थ लेते हैं। सम्भवतः 'मालम्' से इस नाम का विशेष जिला अभीष्ट हो। विल्सन (Wilson) 'माल' को माल्दा (Malda) स्थान से जो रतनपुर के उत्तर की ओर है, मिलाते हैं।

सीरोत्कषणसुरभि =इस सम्बन्ध में देखिए मेघ० श्लोक २१ 'जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः' ॥१६॥

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः ।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः ॥१७॥

अन्वयः—आम्रकूटः सानुमान् आसार–प्रशमितवनोपप्लवम् अध्वश्रम-परिगतम् त्वाम् साधु मूर्ध्ना वक्ष्यति। क्षुद्रः अपि संश्रयाय मित्रे प्राप्ते (सति) प्रथम-सुकृतापेक्षया विमुखः न भवति। यः तथा उच्चैः (सः) किम् पुनः ॥१७॥

पदार्थः—आम्रकूटः =आम्रकूट नामवाला। सानुमान् =पर्वत। आसारप्रशमित० =मूसलाधार वर्षा से वन की अग्नि को शान्त करनेवाले। अध्वश्रमपरिगतम् =मार्ग के श्रम से व्याप्त (थके हुए)। साधु =अच्छी प्रकार। मूर्ध्ना = चोटी पर। वक्ष्यति =उठाएगा। क्षुद्रः अपि =नीच भी। संश्रयाय =शरण के लिए। प्राप्ते (सति) =आने पर। प्रथमसुकृतापेक्षया =पहले के किए गए उपकारों का विचार करके। विमुखो न भवति =विमुख (प्रतिकूल) नहीं होता, मुंह नहीं मोड़ता। तथोच्चैः =इस प्रकार से उन्नत (ऊँचे) का। किम् पुनः = फिर क्या (कहना) ॥१७॥

भाषानुवादः—आम्रकूट पर्वत वर्षा की मूसलाधार से वन की आग को शान्त कर देनेवाले, मार्ग (चलने) से थके हुए तुझे अच्छी तरह अपनी चोटी पर उठाएगा; नीच भी आश्रय के लिए मित्र के आने पर उसके पहले के किये गये उपकारों का विचार करके मुंह नहीं मोड़ता; फिर जो इस प्रकार ऊँचा हो, उसका तो कहना ही क्या ॥१७॥

व्याकरणम्—सानुमान्=सानूनि अस्य सन्तीति+मतुप् आम्रकूटः=आम्राः आम्रवृक्षाः कूटेषु शृंगेषु यस्य, अथवा आम्राणां कूटः समूहः यत्र (बहुव्री०)। आसारप्रशमित०=आसारेण (आ+√सृ+घञ्, भावे आसारः) धारापातेन प्रशमितो वनोपप्लवो दावाग्निः येन (ब० व्री०)। ०वनोपप्लवम्—उप+√प्लु+अप् भावे उपप्लवः (उत्पातः)। देखिए—'उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोदितः' कुमाः०। अध्वश्रमपरिगतम्=अध्वनः श्रमेण मार्गस्य खेदेन परिगतं व्याप्तम्। साधु=अव्यय। मूर्ध्ना=मूर्धन् का तृ० एक०। वक्ष्यति=√वह् (उठाना, ले जाना), (भ्वा० प०,) लट् प्र० पु० एक०। संश्रयाय=संश्रय का च० एक०। सम्+√श्रि (आश्रय लना, भ्वा० प०)+अच् भावे तस्मै। प्राप्ते =प्र+√आप् (स्वा० प०)+क्त, स० एक० । प्रथमसुकृतापेक्षया=प्रथमानि यानि सुकृतानि प्रथमसुकृतानि तेषाम् अपेक्षा तया। उच्चैः= अव्यय है, परन्तु यहां विशेषण के समान प्रयुक्त हुआ है ॥१७॥

विशेषः—आम्रकूटः=विल्सन (Wilson) ने इसे अमरकण्टक माना है। आम्रकूट नाम इस लिए पड़ा कि इसके पास के जंगलों में आम के वृक्ष बहुलता से पाये जाते हैं। यह पर्वत नर्मदा नदी का उद्गम-स्थान और विन्ध्याचल का पूर्वी भाग है। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार है क्योंकि इसमें पूर्वार्ध के विशेषार्थ का उत्तरार्ध के सामान्यार्थ से समर्थन किया गया है।

कुछ प्रतियों में इस श्लोक के अनन्तर निम्नलिखित श्लोक भी मिलता है—

अध्वक्लान्तं प्रतिमुखगतं सानुमानाम्रकूट-
स्तुङ्गेन त्वां जलद ! शिरसा वक्ष्यति श्लाघमानः।
आसारेण त्वमपि शमयेस्तस्य नैदाघमग्नि
सद्भावार्द्रः] फलति न चिरेणोपकारो महत्सु ॥१७-(क)॥

अन्वयः—हे जलद ! आम्रकूटः सानुमान् अध्वक्लान्तम् प्रतिमुखगतम् त्वां श्लाघमानः शिरसा वक्ष्यति, त्वम् अपि आसारेण तस्य नैदाघम् अग्निम् शमयेः। महत्सु सद्भावार्द्रः उपकारः न चिरेण फलति।

भाषानुवादः– हे मेघ ! आम्रकूट पर्वत रास्ते के थके-माँदे सामने आए तुझे सराहते हुए शिर से धारण करेगा। तू भी वर्षा की धाराओं से उसकी ग्रीष्म से पैदा हुई आग (दावाग्नि) को बुझाना; महापुरुषों के प्रति सद्भाव-पूर्ण उपकार शीघ्र ही फल देता है।

विशेषः—हम इस श्लोक के अर्थ में "त्वामासार............"इस श्लोक के अर्थ से कोई नवीनता नहीं पाते, इसलिए इसे मौलिक न समझ कर 'प्रक्षिप्त' ही समझना चाहिए ॥१७-क॥

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
[1]मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८॥) ४.८.

अन्वयः—(हे मेघ !) स्निग्ध वेणी-सवर्णे त्वयि शिखरम् आरूढे (सति) परिणत-फल-द्योतिभिः काननाम्रैः छन्नोपान्तः अचलः मध्ये श्यामः शेषविस्तार-पाण्डुः भुवः स्तनः इव अमर-मिथुन-प्रेक्षणीयाम् अवस्थाम् नूनम् यास्यति ॥१८॥

पदार्थः—परिणतफलद्योतिभिः=पके हुए फलों से चमकनेवाले । काननाम्रैः=जंगल के आमों से । छन्नोपान्तः=ढके हुए पार्श्व भागोंवाला । अचलः (आम्रकूट) पर्वत । स्निग्धवेणीसवर्णे=चिकनी वेणी (केशपाश, बालों की चोटी) से मिलते हुए रंगवाले । भुवः स्तन इव=पृथ्वी के स्तन के समान । शेष-विस्तार-पाण्डुः=जिसका बाकी का विस्तार (विस्तृतभाग) पीला-सा है । अमरमिथुनप्रेक्षणीयाम्=गगनचारी-दम्पतियों (जोड़ों) के द्वारा दर्शनीय । अवस्थाम्=दशा को । नूनम्=निश्चय से । यास्यति= प्राप्त होगा ॥१८॥

भाषानुवादः—(हे मेघ !) चिकनी वेणी (केशपाश, चोटी) से मिलते हुए रंगवाले तेरे (इसके) शिखर पर चढ़ने पर, पके हुए फलों से चमकनेवाले जंगली आमों से घिरे हुए पार्श्व-भागोंवाला (यह आम्रकूट) पर्वत गगनचारी-दम्पतियों (जोड़ों) को अवश्य ही यों दीखने योग्य बन जायगा जैसा कि मध्यभाग में काला और बाकी के विस्तृत भाग में पीला सा पृथ्वी का स्तन हो ॥१८॥

व्याकरणम्—स्निग्धवेणी०=स्निग्धा=तैलचिक्कणा या वेणी केशपाशः तस्याः समानः वर्णः यस्य सः, तस्मिन् (ब० व्री०) । स्निग्धः=√स्निह (दिवा० प०)+क्त । आरूढे=आ+√रुह् (भ्वा० प०)+क्त० स० एक० (सति सप्तमी)। काननाम्रैः=काननेषु भवाः आम्राः तैः (मध्यमपदलोपी समास) परिणतफल०=परिणतैः परिपक्वैः फलैः द्योतन्ते इति । परिणत=परि+√नम् (भ्वा० प०)+क्त । छन्नोपान्तः=छन्ना आवृता उपान्ताः पार्श्व-भागाः यस्य सः (ब० व्री०) ।

१—मेघश्याम ।

छन्नः=√छद् (चु० उभ० ढकना)+क्त। शेषविस्तार०=शेषे विस्तारे पाण्डुः (सप्त० तत्पु०)। प्रेक्षणीयाम्=प्र+√ईक्ष् (भ्वा० आ०), देखना+अनीय (योग्यार्थकृत्यप्रत्यये), यह शब्द 'अवस्थाम्' का विशेषण है। नूनम्=अव्यय। यास्यति=√या (अदा० प०) जाना, लृट् प्र. पु. एक. ॥१८॥

विशेषः--स्निग्धवेणी०=सारोद्धा०, सुमति-विजय तथा सरस्वती तीर्थ के अनुसार 'स्निग्ध' का अर्थ 'कान्तिमत्' है। वेणी के लिये देखिए श्लो० २५,३०।

स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः-देखिए रघु० V 'स (रघुः) निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशः तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ......अलंघयत्॥' और देखिए-- शकु० IV 'आताम्रहरितपाण्डुरः'। यहां उपमा अलंकार है॥

[1]स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्त्तं
[2]तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥१९॥

अन्वयः--(हे मेघ!) वनचर-वधू-भुक्त-कुञ्जे तस्मिन् (आम्रकूटे) मुहूर्तं स्थित्वा तोयोत्सर्ग-द्रुततर-गतिः (सन्) तत्परम् वर्त्म तीर्णः उपल-विषमे विन्ध्यपादे विशार्णाम् रेवाम् गजस्य अङ्गे भक्तिच्छेदैः विरचिताम् भूतिम् इव द्रक्ष्यसि ॥१९॥

पदार्थः--वनचरवधू०=वन में विचरण करनेवालों की स्त्रियों द्वारा भोगे गए निकुञ्ज (लतागृह) वाले। तस्मिन्=उस आम्रकूट पर्वत पर। मूहूर्तम्=क्षणभर, थोड़े काल तक। स्थित्वा=ठहर कर। तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः = जल छोड़ देने के कारण शीघ्र गतिवाला। तत्परम्=उस (आम्रकूट पर्वत) से परे। वर्त्म =(नपुं०) मार्ग को। तीर्णः=पार करके, लाँघकर। उपलविषमे=पत्थरों के कारण विषम (ऊंची-नीची)। विन्ध्यपादे=विन्ध्यपर्वत की तल-हटी में, नीचे। विशीर्णाम्=बिखरी हुई, चारों ओर फैली हुई। भक्तिच्छेदैः चित्रकारी की रेखाओं (रचनाओं) के प्रकारों से। विरचिताम्=बनाए हुए। भूतिम्=शङ्गार को, सजावट को। रेवाम्=नर्मदा को। द्रक्ष्यसि=देखेगा ॥

भाषानुवाद--(हे मेघ!) उस (आम्रकूट-पर्वत) पर, जहां वनचारियों की

१--तस्मिन् स्थित्वा का० पा०। २--तोयोत्सर्गात् म० सिं०, सा०, स० ती०, वि०।

स्त्रियों ने कुञ्जों का आनन्द लिया है, कुछ देर हर कर, पानी बरसा देने के कारण बहुत शीघ्र चलता हुआ (तू) उससे परे का मार्ग लाँघ कर नर्मदा नदी को देखेगा, जो विन्ध्याचल की पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ तलहटी में बिखरी हुई ऐसी लगती है जैसी कि हाथी के अङ्ग (मस्तक) पर चित्रकारी की रेखाओं के (विभिन्न) प्रकारों से बनाई गई सजावट हो ॥१९॥

व्याकरणम्—वनचरवधू०=वने चरन्ति ते वनचराः (वन+√चर्+ट= वनचरः कर्तरि उपपदतत्पु०) 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र से तत्पु० में विभक्ति का अलोप प्रायिक होता है यदि बाद में कृदन्त शब्द हो। एवं लोप में वनचर और अलोप में वनेचर दोनों प्रयोग ठीक हैं। देखिए कुमार. I. 'वनेचराणां वनिता-सखानां दरी....और देखिए–किरा० I. १, 'युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः' तेषां वधूभिः भुक्ताः कुञ्जा यत्र (आम्रकूटे) मुहूर्तम्=कालाध्वनोरत्यन्त-संयोगे' से द्वितीया। तोयोत्सर्ग०=तोयस्योत्सर्गः (उत्+√सृज्+घञ् भावे) तेन द्रुततरा गतिर्यस्य सः (ब व्री०)। तत्परम्=तस्मात् परम् सुप्सुपा इति समासः। तीर्णः=√तॄ (तरना),(भ्वा० प०)+न (क्त), प्र. पु. ए.। उपलविषमे=उपलैर्विषमे (तृ०तत्पु०)। विन्ध्यपादे=विन्ध्यस्य पादे (ष० तत्पु०)। विशीर्णाम्=वि+√शृ (क्र्या० प०), टुकड़े २ करना+न (क्त), द्वि० एक वचन। विरचिताम्= वि+√रच्(चुरा० उभ०),बनाना+क्त, स्त्री०द्वि० एक०; भूतिम् का विशेषण। द्रक्ष्यसि=√दृश् (भ्वा० प०) देखना, लृट् प्र० पु० एक० ॥१९॥

विशेषः—तत्परं वर्त्म तीर्णः=वल्लभ के अनुसार 'तस्मादनन्तरं वर्त्म मार्गमवतीर्णः' इसका अर्थ 'इसके परे मार्ग पर उतर कर' यह हुआ।

विन्ध्यपादे=सात कुल–पर्वतों में से एक पर्वत-श्रेणी का नाम 'विन्ध्य' है। कुल-पर्वतों के ये नाम हैं—महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥' विन्ध्याचल आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा है। इससे आर्यावत और दक्षिणावर्त (Deccan) पृथक्-पृथक् किए गए हैं। यह पर्वत श्रेणी समुद्र के पूर्वीतट से पश्चिमीतट तक फैली हुई है। देखिए—मनु० II, २२—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

विशीर्णाम्=शतशः स्फुटितप्रवाहाम् (सारोद्धारिणी)। रेवाम्=यह नर्मदा

नदी का दूसरा नाम है, जो कि भारत की सात पवित्र नदियों में से एक है। इसका उद्गम (निकास) आम्रकूट-पर्वत है तथा पश्चिम की ओर बहती हुई यह कम्बे की खाड़ी में जा गिरती है। सात पवित्र नदियों के लिये यह प्रार्थना श्लोक है :—"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु॥"

भक्तिच्छेदैः='विच्छित्तिपत्रभंगैर्विरचितां विन्यस्ताम्' (सारोद्धारिणी)। देखिए—कु० स० VIII. ६९ 'भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तदन्तिनः'।

यहां उपमा अलंकार है। विभिन्न धाराओं में विभक्त हुई रेवा (नर्मदा) की उपमा हाथी के मस्तक पर बनाई हुई भिन्न भिन्न प्रकार की चित्र-रचना से की गई है ॥१९॥

तस्यास्तिक्तै[1]र्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बू[2]कुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन ! तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥२०॥

अन्वयः—(त्वम्) वान्त-वृष्टिः (सन्) तिक्तैः वन-गज-मदैः वासितम् जम्बू-कुञ्ज-प्रतिहत-रयम् तस्याः (रेवायाः) तोयम् आदाय गच्छेः। हे घन ! अन्तःसारम् त्वाम् अनिलः तुलयितुं न शक्ष्यति; हि रिक्तः सर्वः लघुः भवति; पूर्णता गौरवाय (भवति) ॥२०॥

पदार्थः—वान्तवृष्टिः=वर्षा उंडेले हुए। तिक्तैः=सुगन्धित। "तिक्तो रसे सुगन्धौ च" इति विश्वः। वन-गज-मदैः=जंगली हाथियों के मद से। वासितम्=सुरभित, सुगन्धिवाले। जम्बू-कुञ्ज-प्रतिहतरयम्=जामुनों के कुञ्जों के द्वारा रोके गए वेगवाले। तोयम्=जलको। आदाय=लेकर। घन=हे मेघ, बादल। अन्तःसारम्=भीतर से सारवान्, ठोस। अनिलः=वायु। तुलयितुम्=हिलाने को। न शक्ष्यति=समर्थ न होगा। हि=क्योंकि। रिक्तः=खाली। लघुः=हल्का। पूर्णता=भरा होना, भरापन, ठोसपन। गौरवाय=भारीपन गुरुता के लिए ॥२०॥

१—तीक्ष्णैः। २—खण्ड।

भाषानुवादः—वर्षा को उंडेले हुए तुम जंगली हाथियों के सुगन्धिवाले मद से सुगन्धित (और) जामुनों के कुञ्जों द्वारा रोके गए वेगवाले उस (नर्मदा) के जल को लेकर जाना। हे मेघ ! भीतर से ठोस बने हुए तुझे वायु हिला न सकेगी, क्योंकि प्रत्येक खाली वस्तु हल्की होती है (और) भरापन गुरुता के लिए (होता है) ॥२०॥

व्याकरणम्—वान्त= √ वम्+क्त कर्मणि। वातवृष्टिः=वान्ता उग्दीर्णा वृष्टिर्येन स। तिक्तैः=तिक्त शब्द का तृ० बहु०। वनगजमदैः=वनस्य गजा वनगजास्तेषां मदैः। वासितम्=√वस्, [भ्वा० प०] (रहना)+णिच्+क्त। जम्बूकुञ्ज०=जम्बूनां कुञ्जैः प्रतिहतः (प्रति+√हन्+क्त, कर्त्तरि) रय. यस्य (ब० व्री०)। गच्छेः=√गम् (भ्वा० प०) वि० लिङ् म० पु० ए०। अन्तःसारम्=अन्तः सारो बलं यस्य तम्। तुलयितुम्=तुलां करोति इति तुला+णिच्+तुमुन्। चुरा० गण की तुल् से तुमुन् प्रत्यय लगकर तोलयितुम् रूप बनता है। शक्ष्यति=√शक्, [स्वा० प०] (समर्थ होना), लृट्, प्र० पु० ए०। रिक्तः=√ रिच् [रुधा. उभ.] (खाली करना)+क्त। प्रतिहतरयम्=प्रतिहतः रयो यस्य एवंभूत तोयम् (बहु व्री०)। रिक्तः सर्वः=यह सामान्यार्थ में पुंल्लिङ्ग 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम के विपरीत है। गौरवाय=गुरोः भावः इति गुरु+अण् तस्मै। 'कृपि सम्पद्यमाने च' इससे चतुर्थी ॥२०॥

विशेषः—वान्तवृष्टिः=वान्ता वृष्टिः येन [बहु०] वम् धातुका अर्थ 'उगलना' है। यहां गौणवृत्ति (Secondary sanse) ली गई ह। देखिए, 'निष्ठचूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्। अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते।'

तिक्तैः=सुरभितैः "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः"। यहां 'तिक्त' का तीखा या कसैला भी अर्थ है, क्योंकि वैद्यक शास्त्र के अनुसार पहले वमन (vomitting) करा देने के बाद श्लेष्मा (कफ) सुखाने के लिए तीखा, कसैला पानी पिलाने से मनुष्य को वात-प्रकोप नहीं होता। देखिये—वाग्भट मल्लि० की टीका में 'कषायाश्च हिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिताः। किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः ॥ कृतशुद्धेः क्रमात्पीतपेयादेः पथ्यभोजिनः। वातादिभिर्न बाधा स्यादिन्द्रियैरिव योगिनः ॥'

जम्बूकुञ्ज०=जामुनों के कुञ्जों में जल के इकट्ठा होने से जल पवित्र तया हल्का हो जाता है।

अन्तःसारम्='अन्तर्मध्ये सारं जलं यस्य' सुमति-विजय। इसका दूसरा अर्थ मल्लि० ने इस प्रकार किया है--'अन्तः सारो बलं यस्य'।

तुलयितुम्=सरस्वती० और सुमति-विजय इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं--'अभिभवितुं पराभवं कर्त्तुं वा' परन्तु सारोद्धारिणी ने इसका अर्थ 'आन्दोलयितुम्' किया है।

मेघ में चिकित्सा के लिए आए हुए पुरुष का व्यवहार समारोप है, इस लिए यहां समासोक्ति अलंकार है। द्वितीय श्लोकार्ध में अर्थान्तरन्यास अलंकार है, क्योंकि इसमें तीसरे पाद के विशेषार्थ का चौथे पाद के सामान्यार्थ से समर्थन किया गया है ॥२०॥

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
[1]जग्ध्वाऽरण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते [2]जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥२१॥

अन्वयः--अर्धरूढैः केसरैः हरितकपिशम् नीपम् दृष्ट्वा अनुकच्छम् आविर्भूत-प्रथममुकुलाः कन्दलीः च जग्ध्वा अरण्येषु उर्व्याः अधिक-सुरभिम् गन्धम् आघ्राय सारङ्गाः जललवमुचः ते मार्गम् सूचयिष्यन्ति ॥२१॥

पदार्थः—अर्धरूढैः=आधे निकले हुए। केसरैः=तन्तुओं से, रेशों से। हरितकपिशम्=हरे और काले लाल [धूसर] रंगवाले। नीपम्=कदम्ब के फूल को। दृष्ट्वा=देखकर। अनुकच्छम्=दलदल में। आविर्भूतप्रथममुकु-लाः=जिनमें पहले-पहल कलियाँ प्रकट हुई हैं। कन्दलीः=केले-जैसे पुष्प-वृक्षों को। जग्ध्वा=खाकर। दग्धारण्येषु=जले हुए वनों में। उर्व्याः=पृथिवी की। अधिकसुरभिम्=बहुत सुगन्धित। गन्धम्=गन्ध को। आघ्राय=सूँघकर। सारंगाः=भृंग, मृग और हाथी। जललवमुचः=पानी की बूंदों को बरसानेवाले। ते=तेरे। मार्गम्=रास्ते को। सूचयिष्यन्ति=बतलाएंगे ॥२१॥

भाषानुवादः—आधे निकले हुए केसरों (तन्तुओं, रेशों) से हरे और धूसर रंगवाले कदम्ब पुष्पों को देखकर, दलदल में प्रकट हुई पहली-पहली कलियोंवाली कन्दलियों (मुँइंकेलियों) को खा कर, एवं जंगलों में पृथ्वी की अधिक तीव्र गन्ध को

१—दग्धारण्येषु। २--नवजलमुचः

सूंघकर (क्रमशः) भौरे, मृग और हाथी जल की बूंदे बरसाने वाले तेरा मार्ग सूचित करेंगे ॥२१॥

व्याकरणम्—अर्धरूढैः० =√रुह्, (भ्वा० प०, उगना) + क्त, तृ० बहु० । हरितकपिशम् =हरितं च तत् कपिशं च, कर्मधा० । दृष्ट्वा =√दृश् (भ्वा० प०) + क्त्वा । अनुकच्छम् =इसमें 'अनु' का सप्तम्यर्थ है अर्थात् कच्छेषु इति अनुकच्छम् । 'अनु' को सामीप्य अर्थ में भी लिया जा सकता है—कच्छस्य समीपे (अव्ययीभा० स०) । कं जलं छयति परिच्छिनत्ति इति कच्छः; क + √छो (अवच्छेदने, दिवा० प०) + अ । 'प्रकरणे मूल-विभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' इससे क प्रत्यय हुआ । आविर्भूतप्रथम० =आविर्भूताः प्रथमा मुकुला यासां ताः (ब० व्री०) । जग्ध्वा =√अद् (अदा० प०) + क्त्वा । आघ्राय =आ + √घ्रा (भ्वा० प० सूँघना) + य (ल्यप्) । जललवमुचः =जलस्य लवान् मुञ्चति इति तस्य (मेघस्य) । सूचयिष्यन्ति =√सूच् (चुरा० उभ०) बताना, सूचित करना, लृट् प्र० पु० बहु० ॥२१॥

विशेष:—जग्ध्वारण्येष्वधिक० =इसके स्थान पर कुछ टीकाकारों ने 'दग्धारण्येष्वधिक०' यह पाठान्तर दिया है । उनका कहना है कि इस श्लोक के दूसरे तथा तीसरे पाद में दो ही 'च' आते हैं । पहला 'च' 'नीपं' और 'कन्दलीः' को जोड़ता है और दूसरा 'च' 'दृष्ट्वा' तथा 'आघ्राय' को । यदि 'जग्ध्वारण्येष्व०' को उचित पाठ माना जाय, तो दो क्त्वान्त व एक ल्यबन्त तीनों एक साथ ही आ जाते हैं और उनके संयोजक केवल दो 'च' ही रह जाते हैं तथा 'जग्ध्वा' का कर्म इससे काफी दूर हो जाता है और प्रथम श्लोकार्ध का एक पद द्वितीय श्लोकार्ध में पड़ जाने से "अर्धान्तरैकपदता" दोष भी आ जाता है । किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हैं । यहां 'सारङ्गा' में कवि को तीन कर्ता अभिप्रेत हैं—भ्रमर, मृग और हाथी । एक कर्त्ता मूलक्रिया से संबद्ध ही है और दो क्रियाओं के संयोजक दो 'च' ठीक ही हैं ।

सारङ्गाः =मल्लि० इस शब्द से हरिण और हाथी अर्थ लेता है । सुमति० कहता है कि मृग के अतिरिक्त इससे 'भ्रमर' अर्थ भी लिया जा सकता है । सारोद्धारिणी के अनुसार इससे उपर्युक्त तीनों अर्थों के अतिरिक्त 'चातक' पक्षी भी अर्थ है । वल्लभ इससे 'मोरों' का अर्थ लेता है । सरस्वतीतीर्थ कहता है कि इस श्लोक में 'सारङ्गाः' शब्द से 'हरिण' ही लिए जा सकते हैं । क्योंकि कालिदास 'सारङ्ग' शब्द का सामान्यतः 'हरिण' के अर्थ में प्रयोग करता

है। देखिए—अभि० शाकु० I. ५ 'एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा'। विक्रमोर्वशीय के IV अङ्क में भी देखिए—'इमं तावत्प्रियाप्रवृत्तिनिमित्तं सारङ्गमासीनमभ्यर्थये'। 'चातक' के अर्थ में भी कालिदास 'सारङ्ग' का प्रयोग करता है, परन्तु बहुत कम। देखिए—रघु० XVII. १५ 'प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः'। पाणिनि के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—(सार+अङ्ग=सारङ्ग)। यह बहु व्री० समास है। टीकाकारों ने इसके हाथी, भ्रमर, चातक, मृग अर्थ लेकर सारं सलीलं गच्छति (हाथी); सारं मधुरं गायति (भ्रमर, चातक, मोर,) साराणि=चित्रितानि अङ्गानि यस्य सः (मृग) इस तरह 'सारङ्ग' शब्द की व्युत्पत्ति की है।

सूचयिष्यन्ति=अनुमापयिष्यन्ति। किस-किस मार्ग से पानी बरसाता हुआ बादल गया है—इस बात का अनुमान वर्षा के नीप और कन्दली के खिलने आदि कार्य से ही किया जा सकता है ॥२१॥

कुछ टीकाकारों ने 'नीपं दृष्ट्वा' इस श्लोक के अनन्तर निम्नलिखित श्लोक भी दिया है, पर वह प्रसिद्ध नहीं है—

अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरां[1]श्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः।
त्वामासाद्य स्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः
[2]सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसंभ्रमालिङ्गितानि ॥२१-क॥

अन्वयः—अम्भोबिन्दु-ग्रहण-चतुरान् चातकान् वीक्षमाणाः श्रेणीभूताः बलाकाः परिगणनया निर्दिशन्तः सिद्धाः स्तनित-समये सोत्कम्पानि प्रियसहचरी-संभ्रमालिङ्गितानि आसाद्य त्वाम् मानयिष्यन्ति।

पदार्थः—अम्भोबिन्दुग्रहण०=जल की बूंदों को पकड़ने में चतुर। चातकान्=चातक पक्षियों को। वीक्षमाणाः=देखते हुए। श्रेणीभूताः=पङ्क्तियां बांधे हुए। बलाकाः=बगुलों की पंक्तियों को। परिगणनया=गिनने से। निर्दिशन्तः=(अंगुली से) दिखाते हुए। सिद्धाः=देवयोनि विशेष, जो आधे मनुष्य और आधे देवता (Demigods) होते हैं। सोत्कम्पानि=प्रकम्प भरी, कँपकँपी के साथ। प्रियसहचरीसंभ्रम०=प्यारी सहचरियों के भय से पूर्ण आलिङ्गनों को। आसाद्य=प्राप्त करके। मानयिष्यन्ति=मान करेंगे, धन्यवाद देंगे।

१—रभसान्। २—सोत्कण्ठानि।

भाषानुवादः—जल की बूंदों को पकड़ने में चतुर चातक पक्षियों को देखते हुए (तथा) पङ्क्तियां बांधे हुए बगुलों की पंक्तियों को गिनती द्वारा (अंगुली से) दिखाते हुए सिद्ध (तुम्हारे) गर्जन के समय प्रियसहचरियों के भय से प्रकम्पभरे आलिङ्गनों को प्राप्त करके तुम्हारा धन्यवाद करेंगे।

व्याकरणम्—अम्भोबिन्दु०=अम्भसः बिन्दूनां ग्रहणे चतुराः तान्। वीक्षमाणाः=वि+√ईक्ष् (भ्वा० आ०), देखना+शानच्, प्र० बहु०। निर्दिशन्तः=निर्+√दिश् (भ्वा० प०), दिखाना+अत्, प्र० बहु०। सोत्कम्पानि उत्कम्पेन सह वर्तमानानि सोत्कम्पानि। प्रिय-सहचरीसंभ्रम०=प्रियसहचरीणां संभ्रमेण आलिंगितानि। आसाद्य=आ+√सद् (भ्वा० प०)+य (ल्यप्) मानयिष्यन्ति=√मन् (चुरा० प०) लृट्, प्र० पु० बहु०।

विशेषः—स्तनितसमये=देखिए-शिशु० VI ३३ 'प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः। प्रणयिनः परिरब्धुमथांगना ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः॥ और देखिए—ऋतु० II. १४, किरा० X. १९॥२१-क॥

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः [1]सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
[2]प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥२२॥

अन्वयः—**हे सखे! मत्प्रियार्थम् द्रुतम् यियासोः अपि ते ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते काल-क्षेपम् उत्पश्यामि। सजलनयनैः शुक्लापाङ्गैः केकाः स्वागतीकृत्य प्रत्युद्यातः (सन्) भवान् कथम् अपि आशु गन्तुम् व्यवस्येत्॥२२॥**

पदार्थः—मत्प्रियार्थम्=मेरी प्यारी के लिए अथवा मेरे भले के लिए। द्रुतम्=जल्दी। यियासोः=जाने की इच्छा रखने वाले। ककुभसुरभौ=कुटज के फूलों से सुगन्धित। पर्वते पर्वते=प्रति पर्वत पर। कालक्षेपम्=समय के विलम्ब की। उत्पश्यामि=मैं सम्भावना करता हूँ। सजल-नयनैः=आँसुओं से भरे नेत्रोंवाले। शुक्लापाङ्गैः=मोरों द्वारा। केकाः=(अपनी) टें-टें ध्वनि को। स्वागतीकृत्य=स्वागत के शब्द बनाकर। प्रत्युद्यातः=अगवानी किया

१—सनयनजलैः। २—प्रत्यद्घातः।

जाता हुआ, अभिनन्दित किया गया। कथमपि=यथा-तथा, जैसे-तैसे। आशु=जल्दी। गन्तुम्=जाने के लिए। व्यवस्येत्=उद्योग करना, यत्न करना॥

भाषानुवादः—हे मित्र! में संभावना करता हूँ कि मेरी प्रिया के (अथवा-प्रिय कार्य के) निमित्त जल्दी-जल्दी जाना चाहते हुए भी तुम्हें कुटज के फूलों से सुगन्धित प्रत्येक पवत पर (कुछ) देरी लग (ही) जायगी। (आनन्द के कारण) डबडबाते नेत्रोंवाले मयूरों से (अपनी) टें-टें की ध्वनि को स्वागत का शब्द बना कर अभिनन्दित किए जाते हुए तुम जैसे-तैसे जल्दी जाने का प्रयत्न करना ॥२२॥

व्याकरणम्—सखे! =सखि का सम्बोधन। मत्प्रियार्थम्=मदीया प्रिया मत्प्रिया तस्यै इति अथवा मदीयं प्रियं (कार्यम्) तस्मै इति (नित्यस०) द्रुतम्=अव्यय, 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। यियासोः=यियासु (√या, अदा० प० का सन्नन्त+उ, तस्य) का षष्ठी का एक०। ककुभ-सुरभौ=ककुभैः कुटज-कुसुमैः सुरभौ सुगन्धिते। पर्वते पर्वते=वीप्सायां द्विरुक्तिः। कालक्षेपम्=कालस्य क्षेपम् (ष० तत्पु०)। उत्पश्यामि=उत्+√दृश् (भ्वा० प०) उत्त० पु० एक०। स्वागतीकृत्य=अस्वागतं स्वागतं संपद्यमानं कृत्वा इति स्वागतीकृत्य, स्वागत+च्वि+√कृ (तना० उभ०)+य (ल्यप्)। प्रत्युद्यातः=प्रति+उत्+√या (अदा० प०)+क्त प्र० एक०। कथमपि-अव्यय। देखिए रघु० 'क्लेशात् कथमप्यक्रामति'। आशु=अव्यय। गन्तुम्,=√गम्, (भ्वा० प०)+तुम् (तुमुन्)। व्यवस्येत्=वि+अव+√सो (दिवा० प०) (नाश करना) प्र० पु० एक०, प्रार्थने लिङ्, 'शेषे प्रथमा' इससे 'भवान्' शब्द के प्रयोग में प्रथम पुरुष।

विशेषः—शुक्लापाङ्गः=मयूरैः 'मयूरो बर्हिणो बर्ही शुक्लापाङ्गः शिखावलः' इति यादवः। मयूरों के अपाङ्ग (नेत्र-प्रान्त, कनखियां) श्वेत होते हैं, इसलिए उनको 'शुक्लापाङ्ग' कहते हैं। केकाः='केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। मयूर की टें-टें, टेंकार।

मत्प्रियार्थम्='मदभीष्ट-कार्य-साधनार्थम्। अस्मत्प्रिया-सन्देश-कथनार्थं वा' सारोद्धारिणी। 'मदीया प्रिया मत्प्रिया तदर्थम्। अथवा मत्प्रिय सन्देश-प्रकाशन-लक्षणं तदर्थम्।'-महिमसिंहगणी।

स्वागतीकृत्य=टें-टें की वाणी को स्वागत के शब्द बनाकर। देखिए—मृच्छ० V. २३ 'एह्येहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः' और देखिए—रघु० II. १ 'विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य। उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥'

यहां 'परिणाम' अलंकार है, क्योंकि स्वागतवचन केकारूप होकर प्रकृत अर्थात् मेघ के प्रत्युद्गमन में उपयोगी होते हैं, परिणाम अलंकार में उपमान उपमेय रूप होकर प्रकृतार्थ में उपयोगी होता है, देखिये साहित्यदर्पण–'विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि। परिणामो भवेत्' X ३४ ॥२२॥

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैः
[1]नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने [2]परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥२३॥

अन्वयः—(हे मेघ!) त्वयि आसन्ने (सति) दशार्णाः सूचिभिन्नैः केतकैः पाण्डुच्छायोपवन-वृतयः, गृह-बलिभुजाम् नीडारम्भैः आकुल-ग्राम-चैत्याः, परिणतफल-श्याम-जम्बू-वनान्ताः (तथा) कतिपय-दिन-स्थायि-हंसाः सम्पत्स्यन्ते ॥२३॥

पदार्थः—त्वयि आसन्ने=तेरे पास आने पर। दशार्णाः=इस नाम का देश। सूचिभिन्नैः=डोडियों के अग्रभाग में खिले हुए। केतकैः=केतकी के फूलों से। पाण्डुच्छायोपवन०=जहां के उद्यान की बाड़ें पीली-सी कान्ति वाली (हो गई) हैं। गृह-बलि-भुजाम्=घर की बलि को खानेवाले (कौए आदि) पक्षियों के। नीडारम्भैः=घोंसलों के निर्माणों से। आकुलग्रामचैत्याः=जिसके ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्ष भरे पड़े हैं। परिणत-फल-श्याम-जम्बू०=जहां जामुन के जंगलों के पर्यन्तभाग पके हुए फलों से काले हो गए हैं। कतिपयदिन०=जहां हंस थोड़े दिनों तक ठहरने वाले ह ऐसे। सम्पत्स्यन्ते=हो जाएंगे ॥ २३ ॥

भाषानुवादः—(हे मेघ!) तेरे आजाने पर दशार्ण-देश में उद्यानों की बाड़ें (Hedges) अग्रभाग में खिले हुए केतकी के फूलों से पीली सी हो जाएंगी; ग्राम की गलियों के पवित्र (पीपल आदि) वृक्ष घरों में बलि के अन्न

१—नीडारम्भे वि०। २—फलपरिणति० विल्स०; परिणतिफल।

को खानेवाले (कौए आदि) पक्षियों के घोंसलों के निर्माण से भर जाएंगे; (तथा) जामुन के जंगलों के किनारे पके हुए फलों से काले हो जाएंगे और हंस थोड़े दिनों तक (ही) ठहर पाएंगे ।। २३ ।।

व्याकरणम्—त्वयि आसन्ने=आ+√ सद् [भ्वा० प०]+न (क्त) सति सप्तमी (Locative adsolute) । सूचिभिन्नैः='सूच्याकारेषु मुकुलाग्रेषु भिन्नैः=विकसितैः'—सरस्वती तीर्थ । पाण्डुच्छायोपवन०=पाण्ड्वी छाया यासां ताः (बहुव्री०) पाण्डुच्छाया उपवनानां वृतयः येषु ते (बहुव्री०) । गृह-बलि-भुजाम्=गृहेषु बलिं भुञ्जते ते गृह-बलि-भुजः तेषां गृहबलि-भुजाम् । नीडारम्भैः=नीडानां निलयानाम् आरम्भैः (आ+√रभ्+घञ्, भावे (आरम्भः तैः) निर्माणैः । आकुल-ग्राम-चैत्याः=आकुलानि संकीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु (ब० व्री०), चिता अथवा चित्या तस्या इमानि इति चित्या+अण्=चैत्यानि । परिणत-फल-श्याम०=परिणतैः (परि+√नम्+क्त परिणत) पक्वैः फलैः श्यामा जम्बूवनानां अन्ताः येषु ते (बहुव्री०) । मल्लि० इसका विग्रह इस प्रकार करता है—परिणतफल श्यामानि जम्बूवनानि (कर्मधा०) तैः अन्ताः (रम्याः) तृ० तत्पु० । कतिपयदिनस्थायि०=कतिपयेष्वेव दिनेषु स्थायिनो हंसा येषु ते (बहुव्री०) । इस समास की रचना में—जैसा मल्लि० और सरस्वती० का विचार है—पाणिनि के "पोटा-युवतिस्तोककतिपय………" इत्यादि नियम का उल्लंघन किया गया है । उक्त नियमानुसार इस समास में 'कतिपय' शब्द को पूर्व में न रख कर अन्त में रखने से 'दिनकतिपयस्थायिहंसाः' यह प्रयोग होना चाहिए था, परन्तु यह नियम प्रायिक ही है, इसलिए कालिदास का प्रयोग अपवाद ही समझना चाहिए । सम्पत्स्यन्ते=सम्+√पद् (दिवा० आ०), लृट् प्र० पु० बहु० । देखिए—श्लोक सं० ११ पूर्वमेघ ॥ २३ ॥

विशेषः—दशार्णाः=दशार्णानाम् निवासाः जनपदाः 'तस्य निवासः' से दशार्ण से अण् प्रत्यय हुआ । इस प्रत्यय का 'जनपदे लुक्' से लोप हुआ । दशार्ण की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—दश ऋणानि (दुर्गाणि) येषामिति दशार्णाः क्षत्रिय-विशेषाः । सरस्वती० के अनुसार यह प्रदेश विन्ध्याचल के उत्तर में स्थित है । विल्सन (Wilson) के विचार में 'दशार्ण' "दोसारेने" (Dosarene) से मिलता-जुलता है । कात्यायन के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'दशन्+ऋण' से हुई है और इसका 'दस दुर्गों का प्रदेश' यह अर्थ है । यह प्रदेश वर्त-

मान काल का 'छत्तीस गढ़' ही हो सकता है, क्योंकि छत्तीस गढ़ में से होकर 'दशार्णा' नाम की एक नदी बहती है, जो विन्ध्याचल से निकलती है।

......ग्रामचैत्याः='ग्रामाणां चैत्यानि चतुष्पथस्थवृक्षाः' सरस्वती०। 'चैत्याः पूज्यपादपाः पिप्पलादयः' सारो०। वल्लभ 'चैत्य' का अर्थ "बुद्धालय" करता है। परन्तु यह मल्लि० तथा अन्य टीकाकारों को उचित प्रतीत नहीं होता।

गृहबलिभुजाम्=इसका 'गृहेषु बलि भुञ्जते इति' सरस्वती० के द्वारा किया गया अर्थ है। कोई 'गृह' का अर्थ यहां "कलत्र" करते हैं, परन्तु यह खींचा-तानी ही है।

जम्बूवनान्ताः=मल्लि० ने 'अन्त' का अर्थ "रम्य" किया है अर्थात् 'जम्बू के वनों से रमणीय', परन्तु यह ठीक मालूम नहीं देता, क्योंकि 'वनान्त' में आये अन्त शब्द का अर्थ बाहरी भाग लेना अच्छा है, अतः वनान्त का अर्थ कालिदास तथा अन्य कवियों ने 'जंगल का किनारा, पर्यन्त या जंगल के पास की भूमि' लिया है। देखिये—रघु० II. १९ (तं) आवर्तमानं वनिता वनान्तात्। पुनः रघु० II. ५८ 'वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते। उत्तर० II में 'यत्र रम्यो वनान्तः' यह प्रयोग है। और देखिए-ऋतु० 'भ्रमति पवनधूमः सर्वतोऽग्निर्वनान्ते'। लक्ष्मीनिवास ने इसका 'जम्बूवनप्रदेशाः' यह अर्थ किया है॥२३॥

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं[1] कामुकत्वस्य [2]लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु[3] यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि[4]॥२४॥

अन्वयः—दिक्षु प्रथित-विदिशा-लक्षणाम् तेषाम् (दशार्णानाम्) राजधानीम् गत्वा सद्यः कामुकत्वस्य अविकलम् फलम् (अपि) लब्धा यस्मात् (त्वम्) वेत्रवत्याः स्वादु चलोर्मि पयः सभ्रूभङ्गम् मुखम् इव तीर-उपान्त-स्तनित-सुभगम् (यथा स्यात् तथा) पास्यसि॥२४॥

१–फलमतिमहत् विल्स०। २–लब्ध्वा। ३–स्वादु यत्तात् मल्लि० म० सिं० सु० वि०, सारो०, स० ती० स्वादुयक्त वल्ल० विल्स०। ४–चलोर्म्याः।

पदार्थः—दिक्षु=दिशाओं में। प्रथित-विदिशा-लक्षणाम्=जिसका विदिशा नाम प्रसिद्ध है। तेषाम् राजधानीम्=उसकी (दशार्ण देश की) राजधानी में। गत्वा =जाकर। सद्यः=शीघ्र ही। कामुकत्वस्य=विलासिता का। अविकलम्= अशेष, सम्पूर्ण। फलम्=फल को। लब्धा=प्राप्त करेगा। यस्मात्=क्योंकि। वेत्रवत्याः= वेत्रवती नाम की नदी का। चलोर्मि=चञ्चल लहरोंवाला। पयः= जल। तीरोपान्तस्तनित०=किनारे के पास गर्जन से सुन्दर (सभ्रूभङ्गम्) = (दन्ताघात से वेदना के कारण) तेवड़ी-चढ़े। मुखम् इव=मुंह की तरह। पास्यसि=पान करेगा ॥२४॥

भाषानुवादः—उस (दशार्ण देश) की दिशाओं में विदिशा नाम से सुविख्यात राजधानी में जाकर (तुम्हें) शीघ्र ही कामित्व (विलासिता) का अशेष फल (भी) मिल जायगा, क्योंकि (तुम) वेत्रवती नदी के चञ्चल लहरोंवाले एवं मधुर जल को यों पीओगे जैसे तेवड़ी-चढ़े एवं मधुर मुंह को (कामी पीते हैं) ॥२४॥

व्याकरणम्—दिक्षु=दिक् (स्त्री०) + सु, स० एक०। प्रथितविदिशा०= प्रथितं प्रसिद्धं विदिशेति लक्षणं नामधेयं यस्यास्ताम् (ब० व्री०)। राजधानीम्=राज्ञाम् धानीम् (स्थानम्)। गत्वा=√गम् (भ्वा० प०), जाना + क्त्वा। कामुकत्वस्य=कामुकस्य भावः कामुकत्वं तस्य। अविकलम्=विगता कला यस्य तद्विकलम् (बहुव्री०) न विकलम् अविकलम् (नञ् तत्पु०), लब्धा=√लभ् (भ्वा० आ०), पाना, लुट् प्र० पु० एक० (कर्मणि लुट् त्वया इति शेषः)। चलोर्मि= चला ऊर्मयो यस्याः तत्। सभ्रूभङ्गम्=भ्रूभङ्गेन सह वर्तमानम् (बहुव्री०)। तीरोपान्तस्तनित०=तीरस्य उपान्ते तटप्रान्ते यत् स्तनितं गर्जितं तेन सुभगम् यथा स्यात् तथा। पास्यसि=√पा, (भ्वा० प०), पीना, लृट् लकार, म० पु० एक० ॥ २४ ॥

विशेषः—विदिशा=यह प्राचीन काल में वेत्रवती नाम की नदी पर स्थित एक प्रसिद्ध नगर था। यह 'दशार्णदेश' की राजधानी था। वर्तमान काल में इससे मालवा स्थित 'भिलसा' लिया जाता है। विदिशा के आधार पर उस मण्डल (ज़िले) का नाम, जिसमें यह स्थित थी, प्रायः 'वैदिश' कहलाता था।

राजधानीम्=राज्ञां धानी स्थानम्। राजा का स्थान। देखिए—यमधानी, पुष्प-धानी (उर्दू फूल-दान)।

स्वादु यस्मात्––इसके स्थान में 'स्वादु यत्र' अथवा 'स्वादुयुक्तम्' पाठ भी मिलते हैं। पहले पाठ का अर्थ है 'जहां विदिशा में'। यह पाठ 'स्वादु यस्मात्' से अच्छा नहीं है, क्योंकि 'यत्र' में अन्तिम अक्षर ह्रस्व होने से छन्दोभंग दोष हो जाता है। पदान्त में अन्तिम अक्षर का विकल्प से दीर्घ मान लेने का नियम (पादान्तस्थं विकल्पेन) द्वितीय और चतुर्थ पाद के अन्तिम अक्षर पर ही लागू होता है न कि प्रथम और तृतीय के अन्तिम अक्षर पर भी। इसलिये हृतवृत्तता दोष आजाने के कारण 'यत्र' पाठ की अपेक्षा 'यस्मात्' पाठ ही ठीक है। 'स्वादु यस्मात्' इस पाठ से यह स्पष्ट किया गया है कि क्यों बादल को विलासिता का फल प्राप्त होगा। 'स्वादुयुक्तम्' पाठ भी ठीक नहीं बैठता, क्योंकि स्वादु स्वयं विशेषण शब्द है। 'स्वादयुक्तम्' होता तो कुछ बात भी थी।

फलमविकलम्––इसकी जगह 'फलमपि महत्' यह पाठ भी मिलता है। इस पाठ से यह अर्थ हो जाता है––'(कामित्व का) महान् फल भी (मिल जायगा)'। 'अविकलम्' के स्थान में महत् वाला पाठ भी अच्छा ही है, क्योंकि भोगविलास का महान् फल अधर पान ही समझा जाता है। देखिये––कामशास्त्र 'कामिना-मधुरास्वादः सुरतादतिरिच्यते'।

चलोर्मि–इसके स्थान में 'चलोर्म्याः' पाठान्तर है जो कि 'वेत्रवत्याः' का विशेषण है। किन्तु 'पयः' का विशेषण बनाने में स्वारस्य है, क्योंकि लहरोंवाले जल का भ्रूभङ्गवाले मुख से समानता बतलाने में ही कवि का अभिप्राय है। इस कारण 'चलोर्मि' वाला पाठ ही अच्छा है।

वेत्रवत्याः—वेत्रवती नदी का आधुनिक नाम 'बेतवा' है। यह विन्ध्याचल के उत्तर से निकलकर भिल्स या विदिशा में से होती हुई कल्पी के पास यमुना नदी में जा मिलती है। इस नदी का बहुत सा भाग मालव प्रान्त में से होकर जाता है। देखिए—कादम्बरी १ 'मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया वेत्रवत्या परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत् ॥२५॥'

इस श्लोक में जल की समता मुख से दी गई है। उपमेय-गत 'चलोर्मित्व' और उपमान-गत, सभ्रूभंगत्व' भिन्न २ धर्म होने पर भी दोनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है। वेत्रवती और नायिका का साम्य गम्य होने से एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र [1]विश्रान्ति-हेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढ़पुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२५॥

अन्वयः—(हे मेघ) तत्र (विदिशायां) विश्रान्ति-हेतोः (त्वम्) प्रौढ़-पुष्पैः त्वत्संपर्कात् पुलकितम् इव नीचैराख्यम् गिरिम् अधिवसेः, यः (गिरिः) पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिः शिला-वेश्मभिः नागराणाम् उद्दामानि यौवनानि प्रथयति ॥२५॥

पदार्थः—तत्र = उस विदिशा में । विश्रान्तिहेतोः = आराम करने के लिए । नीचैः आख्यम् गिरिम् = 'नीचैः' इस नामवाले पर्वत पर । अधिवसेः = ठहरना, रहना । प्रौढपुष्पैः कदम्बैः = पूरे खिले हुए कदम्ब (नीप) के फूलों से । त्वत्-संपर्कात् = तेरे संसर्ग या मेल से । पण्यस्त्री..... गारिभिः = वेश्याओं की रति-क्रीड़ा में (प्रयुक्त) सुगन्ध को उगलनेवाले । शिलावेश्मभिः = पत्थर के गृहों (गुफाओं) से । नागराणाम् = नगरवासियों के । उद्दामानि = उभरे, उत्कट । यौवनानि = यौवन (जवानी) को प्रथयति = प्रकट करता है ॥२५॥

भाषानुवादः—(हे मेघ ?) वहाँ (विदिशा में) विश्राम करने के लिए (तुम) 'नीचैः' नामवाले पर्वत पर ठहरना जो कि पूरे खिले हुए फूलों से तुम्हारे संसर्ग के कारण रोमाञ्चित हुआ-सा लगता है, तथा वेश्याओं की रति-क्रीड़ाओं में (प्रयुक्त) सुगन्ध को उगलनेवाले पत्थर के गृहों (गुफ़ाओं) के द्वारा नगर-वासियों के उभरे हुए यौवन को प्रकट करता है ॥२५॥

व्याकरणम्—विश्रान्तिहेतोः = विश्रान्तेः (ष० तत्पु०) । विश्रान्तेः = वि+ √श्रम्, [दिवा० प०] (आराम करना)+क्तिन् (भावे) । प्रौढपुष्पैः = प्र+√वह्, [भ्वा० प०]+क्त, कर्त्तरि प्रौढानि पुष्पाणि येषु (ब० व्री०) । त्वत्सम्पर्कात् सम्+√पृच्, (भ्वा० प०)+घञ् भावे सम्पर्कः (षष्ठी तत्पु०) तस्मात् हेतौ पञ्चमी । पुलकितम् = पुलकाः अस्य जाताः पुलक+इत, तारकादित्वात् 'तारकादिभ्य इतच्' । नीचैराख्यम् = आख्यानम् आख्या, (आ+√ख्या+अङ् भावे) नीचैः आख्या अस्य (बहुव्री०) तम् । गिरिम् का

१—विश्रामहेतोः मल्लि० विल्स. इत्यादि ।

C. L. Sapru A. K. Sapru
एक पर्वत का नाम

विशे० । अधिवसेः=अधि+$\sqrt{}$वस्, (भ्वा० प०), विधि लिङ्, म० पु० एक० । वस् धातु 'अधि' उपसर्ग के योग में 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र से सकर्मक हो जाता है, अतः 'गिरि' में सप्तमी न आकर द्वितीया का प्रयोग हुआ । पण्यस्त्रीरति०= पण्याः क्रेयाः स्त्रियः तासां रतिषु यः परिमलः तम् उद्गिरन्ति आविष्कुर्वन्ति इति तैः (शिलावेश्मभिः) । नागराणाम्=नगरे भवा इति, नगर+अण् नागराः तेषाम् । उद्दामानि=दाम्नः शृंखलाया उद्गतानि इति । (प्रादितत्पु०) यौवनानि=युवन् तस्य भावः इति युवन्+अण्=यौवनम् तानि । यह प्रथयति का कर्म है । प्रथयति=$\sqrt{}$प्रथ्, (चु०प०) (प्रसिद्ध होना)+णिच्, लट् प्रथम पु० एक० ॥२५॥

विशेषः--मल्लि० ने 'विश्रान्ति-हेतोः' के स्थान में 'विश्राम-हेतोः' पाठ दिया है और विश्राम शब्द की व्युत्पत्ति पर "विश्रामेत्यत्र नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति पाणिनीये वृद्धिप्रतिषेधेऽपि 'विश्रामो वा' इति चन्द्रव्याकरणे विकल्पेन वृद्धि-विधानाद्रूपसिद्धिः' लिख कर 'विश्राम' शब्द को व्याकरण के द्वारा शुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'विश्रम' ही शुद्ध प्रयोग है 'विश्राम' नहीं । मल्लि० ने "विश्रामो वा" यह चन्द्रव्याकरण का सूत्र दिया है, परन्तु यह सूत्र चन्द्रव्याकरण में कहीं भी नहीं मिलता । चन्द्रव्याकरण भी सूत्र VI. १, ४२ के अनुसार 'विश्रम' ही सिद्ध करता है । संभवतः मल्लि० के मस्तिष्क में जैनेन्द्र व्याकरण का "विश्रामो वा" (V. २. ४१) यह सूत्र हो । विश्राम शब्द के अशुद्ध होने के कारण ही वल्लभ श्लोक की टीका करता हुआ लिखता हैः—'विश्राम-शब्दः कवीनां प्रमादजः' अतः "विश्रान्ति हेतोः" पाठ ठीक है ।

पुलकितमिव=पूरे खिले हुए कदम्ब के फूलों में शरीर में प्रकट हुए रोंगटों की उत्प्रेक्षा की गई है । यहां "पुलकितम्" का अर्थ 'रोमाञ्चितम्' है । रोमाञ्चित तथा कदम्ब फूल के लिए देखिए—उत्तर० III. ४२ 'सस्वेद-रोमाञ्चित-कम्पिताङ्गी जाता प्रिय-स्पर्श-सुखेन बाला । मरुन्नवाम्भः प्रविधूत-सिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ।'

उद्गारिभिः=उगलने वाले, प्रकट करने वाले (शिलाओं के घर) । यहां 'उद्गार' शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस लिए जुगुप्सा होने से अश्लीलत्व-दोष नहीं आता, प्रत्युत इससे काव्य की शोभा ही बढ़ जाती है । देखिए—

दण्डी 'काव्यादर्श' में क्या कहते हैं—'निष्ठ्यूतोद्गीर्ण-वान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।' उद्‌गार का असली अर्थ "वमन' है ।

पण्यस्त्री=वेश्या, देखिए—'वारस्त्री गणिका वेश्या पण्यस्त्री रूपजीविनी' इति शब्दार्णवः, मोल से खरीदी जानेवाली औरत। उभरे हुए यौवनवाली वेश्याएं किसी-किसी पर अनुरक्त हो स्वच्छन्द विहार चाहती हुई 'माता' आदि के डर से आधीरात के समय किसी एकान्त स्थान में जाकर प्रेमियों के साथ रमण करती हैं—विदिशा में यह प्रसिद्ध ही है (मल्लि०)।

इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है क्योंकि यहां खिले हुए फूलों में रोमाञ्चत्व की संभावना की गई है। देखिए—साहित्यदर्पण 'भवेत् संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना'॥ २५॥

विश्रान्तः सन् व्रज [1]नगनदीतीरजानां[2] निषिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि ।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥२६॥

अन्वयः—तत्र (नीचैःगिरौ) विश्रान्तः (सन्) नगनदीतीरजानाम् उद्यानानाम् यूथिका-जालकानि नव-जलकणैः निषिञ्चन् गण्डस्वेदापनयन-रुजाक्लान्त-कर्णोत्पलानाम् पुष्पलावीमुखानाम् छायादानात् क्षणपरिचितः (सन्) व्रज ॥२६॥

पदार्थः—विश्रान्तः सन्=आराम कर चुकने पर । नगनदी-तीरजानाम् उद्यानानाम्=पहाड़ी नदियों के किनारों पर (स्थित) बागों को। यूथिकाजालकानि=जूही की कलियों को। नवजलकणैः=नए जल की बूंदों से। निषिञ्चन्=सींचता हुआ । गण्डस्वेदापनयनरुजा-क्लान्त-कर्णोत्पलानाम्=जिनके कानों में (डाले गये) कमल गालों पर (आये हुए) पसीने के हटाने की बाधा से मुरझा गये हैं (ऐसी)। पुष्पलावीमुखानाम्=फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियों के मुखों का । छायादानात्=छाया के देने के कारण। क्षणपरिचितः=क्षणभर परिचय प्राप्त कर। व्रज=जाना ॥ २६ ॥

१—वननदी० मल्लि०; नवनदी० सारो० म० सिं० । २—तीरजातानि सिञ्चन् मल्लि० विल्स० इत्यादि ।

भाषानुवादः—वहां, विश्राम करके पहाड़ी नदियों के किनारों पर (स्थित) बागों में जूही की कलियों को नये जल की बूँदों से सींचता हुआ, फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियों के मुखों का, जहां कानों में (लटकाये हुए) कमल गालों पर आये हुए पसीने के हटाने की बाधा से मुरझायें होंगे, छाया देने के कारण क्षण-भर परिचय प्राप्त करते हुये जाना ॥ २६ ॥

व्याकरणम्—विश्रान्तः=वि+√श्रम् (दिवा० प०)+क्त। वननदीतीरजानाम्=वने या नद्यः तासां तीरेषु जातानाम् । नवजलकणैः=नवजलानां कणैः (ष० तत्पु०) । निषिञ्चन्=नि+√सिच् (तुदा० प०)+अत् । सिच् धातु का अर्थ गीला करना है, इसलिये जलकण में तृतीया हुई । जब सिच् का अर्थ किसी द्रव को छिड़कने का हो, तो इसके साथ कर्मकारक आता है । यहां इसका कर्म 'यूथिकाजालकानि' है । गण्ड-स्वेदापनयन०=गण्डयोः स्वेदस्यापनयनेन या रुजा तया क्लान्तानि कर्णयोः उत्पलानि येषु तेषां (पुष्पलावी-मुखानाम्) (बहुव्री०) । पुष्पलावीमुखानाम्= पुष्पाणि लुनन्तीति पुष्पलाव्यः, "कर्मण्यण्" इति 'अण्' 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् तासां मुखानि तेषाम् (ष० त०) छायादानात्= छायायाः दानात् (ष० तत्पु०) । क्षणपरिचितः=क्षणं परिचितः 'कालाध्वनोः अत्यन्त संयोगे' द्वितीया । व्रज= √व्रज् (भ्वा० प०), जाना लोट्, म० पु० एक० ॥ २६ ॥

विशेषः—नगनदीतीरजानाम्=मल्लि० 'नगनदीतीरे-जानाम्' के स्थान में 'वननदीतीरजानि' पाठ देता है और इसका 'जंगल की नदियों के किनारों पर स्वयं उगे हुए बागों के' यह अर्थ करता है। कहीं-कहीं 'वन-नदी' के स्थान में 'नद-नदी' पाठ मिलता है; पर मल्लि० ने उसका खण्डन कर दिया है । क्योंकि 'नद-नदी' इस पाठ में 'पुमान् स्त्रिया' इस व्याकरण के सूत्र से एक शेष हो जाने से 'नद' ही शेष रह जाना चाहिए था। के० पी पाठक 'वन-नदी' से किसी विशेष नदी को लेते हैं और इसके समर्थन में सारोद्धा० का उद्धरण देते हैं:—"अथवा मालवदेशे यूथिका-खण्ड-मण्डितोद्यान-मालित–तीरदेशा वननदी नाम्ना सरिदस्तीति"। साथ ही वल्लभ की यह पङ्क्ति भी देते हैं:—'कानन–सरिन्नदी–विशेषो वा' । सारोद्धा० में 'नवनदी' पाठ आया है, परन्तु इसमें 'वननदी' पाठ भी माना गया है जैसा की ऊपर उद्धरण दिया

गया है। सुमति० वल्लभ तथा विल्सन (Wilson) 'नग-नदी' पाठ देते हैं। जिसका अर्थ 'पहाड़ी नदी' है।

पुष्पलावी = विल्सन इससे मालाकार-जाति का अर्थ लेते हैं।

छायादानात्क्षण० = छाया के देने से फूलों को तोड़नेवाली स्त्रियां मेघ को कामुक समझ कर प्रसन्न होंगी और मेघ भी उनके क्षणिक सहवास का आनन्द ले लेगा।

मेघ में कामुक-व्यवहार-समारोप होने से इस श्लोक में 'समासोक्ति' अलंकार है॥ २६॥

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा[1] स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरण[2]चकितैस्तत्र[3] पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितो[4]ऽसि॥२७॥

अन्वयः—उत्तराशाम् प्रस्थितस्य भवतः पन्थाः यदपि वक्रः (तथापि) उज्जयिन्याः सौधोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखः मा स्म भूः। तत्र विद्युद्-दाम-स्फुरण-चकितैः लोलापाङ्गैः पौराङ्गनानाम् लोचनैः यदि न रमसे (तर्हि, त्वम्) वञ्चितः असि॥२७॥

पदार्थः—उत्तराशाम् = उत्तर दिशा की ओर। प्रस्थितस्य = जाते हुए। भवतः = तुम्हारा। पन्थाः = मार्ग। यदपि = यद्यपि। वक्रः = टेढ़ा। उज्जयिन्याः = उज्जयिनी (विशाला) के। सौधोत्सङ्ग-प्रणय-विमुखः = महलों के ऊपर वाले भागों का परिचय (सम्पर्क) प्राप्त करने से पराङ्मुख। मा स्म भूः = मत होना। तत्र = वहां, उज्जयिनी में। विद्युद्दामस्फुरण-चकितैः = बिजली की रेखा की चमक से भौचक्की-सी हुई, डरी हुई। पौराङ्गनानाम् = नगर की नारियों के। लोलापाङ्गैः = चञ्चल कटाक्षोंवाली। लोचनैः = आँखों से। न रमसे = रमण नहीं करता, आनन्द नहीं लेता। वञ्चितः असि = (जीवन सफलता से) ठगा गया है॥ २७॥

भाषानुवादः—उत्तर दिशा की ओर जाते हुए तुम्हारा मार्ग यद्यपि टेढ़ा पड़ेगा, (तथापि) उज्जयिनी के महलों के ऊपर वाले भागों का परिचय प्राप्त

१—मा च विल्स०। २—स्फुरितचकितैः मल्लि०। ३—यत्र का० पा०। ४—वञ्चितः स्याः का० पा०।

करने से विमुख न होना । वहां (उज्जयिनी में) बिजली की रेखाओं की चमक से भौचक्की (डरी) हुई नगर की नारियों की चञ्चल चितवनवाली आँखों का यदि तुमने आनन्द नहीं लिया, तो तुम (जीवन–सफलता से) वञ्चित ही हो ।। २७ ।।

व्याकरणम्—उत्तराशाम् =उत्तरा आशा (दिशा) कर्मधा० । ताम् प्रस्थितस्य =प्र+ √स्था (भ्वा० प०) + क्त, ष० एक० 'भवतः' का विशेषण है । सौधोत्सङ्गप्रणय० =सौधानाम् उत्सङ्गेषु प्रणयः तस्य विमुखः । सौधः =सुधा (चूना) लेपः अस्यास्तीति सौधः (सोधम् वा) । मा स्म भूः ="माङ्लृङ्, स्मोत्तरे लङ् च" यहाँ चकार से स्म के योग में लुङ् भी होता है । "न माङ् योगे" इससे 'अट्' आगम का प्रतिषेध हुआ । देखिए-पूर्वमेघ श्लोक ३९ । विद्युद्दामस्फुरित-चकितैः =विद्युतः (वि + √द्युत् + क्विप् तस्याः) दाम्नां स्फुरणेभ्यः चकितैः । लोलापाङ्गैः =लोलाः (चञ्चलाः) अपाङ्गाः नेत्रप्रान्ताः येषु तानि (ब० व्री०) पौराङ्गनानाम् =पुरे भवा इति,—पुर+अण्, पौराः । पौराणाम् अङ्गनाः तासाम् । वञ्चितः = √वञ्च्, (चु० आ०, ठगना, रहित कर देना) + क्त ।। २७ ।।

विशेषः—वक्रः पन्था =विन्ध्याचल से उत्तर की ओर बहती हुई निर्विन्ध्या नदी के पूर्व भाग में कुछ दूरी पर उज्जयिनी स्थित है । और उत्तर का रास्ता निर्विन्ध्या के पश्चिम में है, इसलिए उत्तर की ओर जाते हुए मेघ के रास्ते में घुमाव कहा गया है—मल्लि० ।

उज्जयिन्याः =प्राचीन काल में अवन्ती देश की राजधानी उज्जयिनी थी । इसका वर्णन नासिक पर्वत के गुफाओं के शिला-लेखों में है । प्टोलमी (Ptolemy) इसको 'चष्टाण' (Chastana) की राजधानी बताता है । उज्जयिनी सिप्रा नदी के किनारे पर स्थित है और यहां महाकाल (शिव) का मन्दिर है । 'महाकाल' के लिए पूर्वमेघ का श्लोक ३६ देखें। यहां बहुत से लोग यात्रा के लिए आया करते हैं । उज्जयिनी को ही अवन्तिका और विशाला भी कहते हैं । यह महाभारत के सात तीर्थ-स्थानों में से एक है, जिनका प्रातः स्मरण किया जाता है । इन सात तीर्थों के नाम ये हैं–अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका । पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।

वञ्चितोऽसि =इसका शब्दार्थ है कि तू (जीवन-सफलता से) वञ्चित है,

ठगा गया है। इसके स्थान पर पाठान्तर 'वंचितः स्याः' है। सरस्वती० ने इसका अर्थ 'व्यर्थ–जन्मा भविष्यसि' दिया है और कहा है–'अथवा यदि तवैवं नोपदिशामि तर्हि त्वं मया वंचितोऽसि'। इसका अर्थ है कि यदि मैं तुम्हें ऐसा करने का उपदेश न दूँ, तो सचमुच मैंने तुमको धोका दिया है। देखिए––अभि० शा० II 'अनवाप्त–चक्षुःफलोऽसि' ।।२७।।

सम्प्रत्युज्जयिनीं गच्छतस्तस्य मध्येमार्गं निर्विन्ध्यासम्बन्धमाह––

वीचिक्षोभस्तनित[1]विहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव [2]रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं[3] प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ।।२८।।

अन्वयः––पथि वीचि-क्षोभ-स्तनित-विहग-श्रेणि-काञ्ची-गुणायाः स्खलितसुभगम् संसर्पन्त्याः (तथा) दर्शितावर्त-नाभेः निर्विन्ध्यायाः सन्निपत्य रसाभ्यन्तरः भव; हि स्त्रीणाम् प्रियेषु विभ्रमः आद्यम् प्रणय-वचनम् (भवति)।।२८।।

पदार्थः—पथि=उज्जयिनी के मार्ग में। वीचिक्षोभस्तनितविहग०=लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षियों (हंसों) की पङ्क्ति ही जिसकी करघनी (तागड़ी) है। स्खलितसुभगं संसर्पन्त्या=(१) पत्थरों पर टकराने से (२) जवानी के मद से गिरने से जो बड़ी सुन्दर चाल से चल रही है। दर्शितावर्त-नाभेः=जिसने जल के भँवर-रूपी नाभि को दिखा दिया है। निर्विन्ध्यायाः= निर्विन्ध्या नाम की नदी के। संनिपत्य=सम्पर्क में आकर। रसाभ्यन्तरः= (१) अन्दर जल धारण करनेवाला (२) शृंगाररस का स्वाद लेनेवाला। विभ्रमः=विलास, हाव भाव। आद्यम्=प्रथम, पहला। प्रणय-वचनम्=प्रेम की याचना का शब्द ।।२८।।

भावानुवादः––मार्ग में निर्विन्ध्या नदी के, जिसकी लहरों के चलने से शब्द करते हुए पक्षियों (हंसों) की पङ्क्ति ही करघनी है और जो [(१) पत्थरों पर जल के टकराने के कारण (२) जवानी के मद के कारण] ठोकर खाने से सुन्दर चलती हुई भँवर-रूपी नाभि को दिखा रही है––सम्पर्क में आकर उसके रस

१––क्वणित। २––रसाभ्यन्तरं सारो०, म० सिं०, सु० वि०, विल्स०। ३––प्रणयि० सारो०।

[(१) जल (२) श्रृंगार] को ग्रहण करना, क्योंकि स्त्रियों का प्रेमियों के प्रति हाव-भाव प्रथम याचना का शब्द हुआ करता है।

व्याकरणम्—वीचिक्षोभस्तनितविहग०=वीचीनां क्षोभेण (ष० तत्पु०) स्तनितानां शब्दायमानानां विहगानां श्रेणिः पङ्क्तिरेव काञ्ची गुणो यस्याः सा (ब० व्री०)। स्खलितसुभगम्=स्खलितेन उपलस्खलनेन मदस्खलनेन च सुभगं यथा स्यात् तथा। संसर्पन्त्याः=प्रवहन्त्याः गच्छन्त्याश्च; सम्+√सृप् [भ्वा० प०]+अत्+ङीप् ष० एक०। दर्शितावर्तनाभेः=दर्शितः प्रकटितः आवर्तोऽम्भसां भ्रमः एव नाभिः (कर्मधा०) यया सा तस्याः (ब० व्री०)। निर्विन्ध्यायाः= निर्विन्ध्या समास प्रादितत्पु० है। 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' से 'निर्विन्ध्यः' होना चाहिए था, परन्तु 'द्विगुप्राप्तापन्नालं पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः' इस वार्तिक से प्रादितत्पु० में परवल्लिगता जाती रही। एवं निर्विन्ध्या स्त्रीलिंग रूप बना। रसाभ्यन्तरः=(१) रसः=जलम् अभ्यन्तरे यस्य (ब० व्री०)-(२) रसेन (शृङ्गारेण) अभ्यन्तरोऽन्तरङ्गः (तृ० तत्पु०) भव=√भू (भ्वा० प०), लोट्, म० पु० एक०॥२८॥

विशेषः—निर्विन्ध्यायाः=निर्विन्ध्या मालव देश की एक नदी है। यह विन्ध्यपर्वत से निकलती है, इसीलिए इसका 'निर्विन्ध्या' यह अनुरूप नाम है—अर्थात् 'निष्क्रान्ता विन्ध्यात् इति निर्विन्ध्या'। जिनसेन ने अपने आदिपुराण में भी इस नदी का वर्णन किया है।

विहगश्रेणिकाञ्ची०=देखिए—विक्रमो० IV. २४ 'तरङ्गभ्रूभंगा क्षुभित-विहगश्रेणि-रशना'। ऋतु० III. २४।

दर्शितावर्तनाभेः=जल की भँवर ही नाभि है। देखिए–रघु० XIII. ४२ 'व्याजार्थसंदर्शितमेखलानि'। इस सम्बन्ध में श्री नन्दरगिकार ने नीचे दिए गए श्लोक का उद्धरण दिया है—स्निग्धं दृष्टिपथं विभूषिततनुः कर्णस्य कण्डूयनं नाभेर्दर्शनमुत्पथं च गमनं बालस्य चालिङ्गनम्। केशानां च मुहुर्मुहुर्विवरणं निश्वस्य चालापनं कुर्युः प्रीतिवशात् स्त्रियः समदना दृष्ट्वा नरं वाञ्छितम्॥'

इल श्लोक में 'रूपक' अलंकार है। जहां उपमेय को कहकर उसमें उपमान का आरोप किया जाय, वहां 'रूपक' होता है। यहां हंसपंक्ति में 'रशनात्व' और आवर्त में 'नाभित्व' का आरोप तो शाब्द है, किन्तु निर्विन्ध्या में 'नायिकात्व' का आरोप गम्य होने से एकदेशविवर्ति साङ्गरूपक है। रस शब्द के दो अर्थ होने से यहां 'श्लेष'

अलंकार भी है और अन्तिम पाद में पादत्रयगत वस्तु का समर्थन होने से 'अर्थान्तिरन्यास' अलंकार भी है ॥२८॥

निर्विन्ध्याया विरहावस्थां वर्णयंस्तन्निराकरणं प्रार्थयते—

वेणीभूतप्रतनुसलिला[1] तामतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः[2] ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती[3]
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥२९॥

अन्वयः—वेणीभूतप्रतनुसलिला तटरुह-तरु-भ्रंशिभिः जीर्ण-पर्णैः पाण्डुच्छाया सिन्धुः विरहावस्थया ताम् अतीतस्य ते सौभाग्यम् व्यञ्जयन्ती येन विधिना कार्श्यम् त्यजति, हे सुभग ! सः (विधिः) त्वया उपपाद्यः ॥२९॥

पदार्थः—वेणीभूतप्रतनुसलिला=जिसका कम जल वेणी (स्त्रियों की चोटी) जैसा बना हुआ है। वेणी के लिये देखिये-श्लोक-१८, पूर्वमेघ। तटरुहतरुभ्रंशिभिः =किनारों पर उगे हुये वृक्षों से गिरते हुये। जीर्णपर्णैः=पुराने पत्तों से । पाण्डुच्छाया=पीली कान्तिवाली। सिन्धुः=काला सिन्धु नाम की नदी। विरहावस्थया =वियोग की अवस्था द्वारा। ताम्=उस निर्विन्ध्या नदी को। अतीतस्य=पार करते हुये। ते=तेरे। सौभाग्यम्= अच्छे भाग्य को। व्यञ्जयन्ती=प्रकट करती हुई। येन विधिना=जिस प्रकार। कार्श्यम्=दुर्बलता को। त्यजति=छोड़ देती है। सुभग=हे भाग्यशाली ! सः=वह विधि। त्वया उपपाद्यः=तुम्हें करनी चाहिये। २९।

भाषानुवादः—उस (निर्विन्ध्या नदी) को पार करके, हे भाग्यवान्? तू ऐसा उपाय करना जिससे कि सिन्धु-नदी,जिसका क्षीण जल वेणी (स्त्रियों की चोटी) जैसा बना हुआ है, जो किनारों पर उगे हुये वृक्षों से गिरनेवाले पत्तों से पीली कान्तिवाली हो गई है और (अपनी) विरहावस्था से तेरी भाग्यशालिता को प्रकट कर रही है, अपनी दुर्बलता को त्याग दे ॥२९॥

व्याकरणम्—वेणीभूतप्रतनु०=न वेणी अवेणी, अवेणी वेणीसम्पद्यमानं भूतम् वेणीभूतं; वेणीभूतं प्रतनु सलिलं यस्याः सा (ब० व्री०)। तटरुह-तरु-

१—सलिलासावतीतस्य मल्लि०, सलिला सात्वतीतस्य स० ती० ।
२—शीर्णपर्णैः वल्ल०; विल्स०। ३—व्यञ्जयन्तीम्।

भ्रंशिभिः=तटेषु रुहन्ति ये तरवः तेभ्यो भ्रंशिभिः । जीर्णपर्णैः=जीर्णानि पर्णानि जीर्णपर्णानि तैः (कर्मधा०) । पाण्डु-च्छाया=पाण्ड्वी छाया यस्याः सा (ब० व्री०) । अतीतस्य=अति+√इण् (अदा० प०)+क्त, षष्ठी एक० । सौभाग्यम्=सुभगस्य भावः सौभाग्यम् । व्यञ्जयन्ती=वि+√अञ्ज् (भ्वा० प०)+अत्+ई (स्त्रियाम्), प्र० एक० । कार्श्यम्=कृशस्य भावः कार्श्यम् ॥२९॥

विशेष:—वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः=इसके स्थान में मल्लि० ने '…सलिलासावतीतस्य सिन्धुः' यह पाठान्तर दिया है और 'तामतीतस्य' का खण्डन करते हुये लिखा है--'तामतीतस्य' इति पाठमाश्रित्य सिन्धुर्नाम नद्यन्तरमिति व्याख्यानं तु सिन्धुर्नाम कश्चिन्नदः काश्मीरदेशेऽस्ति । नदी तु कुत्रापि नास्तीत्युपेक्ष्यम्, अर्थात् निर्विन्ध्या के अतिरिक्त सिन्धु नाम की कोई और नदी है, यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि 'सिन्धु' कोई नदी नहीं है, किन्तु एक महानदी है, जो काश्मीर में ही बहती है न कि मालवा में। मल्लि० के पाठानुसार "अतीतस्य ते" इतने समय तक परदेश गए हुए तेरे और "असौ सिन्धुः" यह नदी (निर्विन्ध्या) अर्थ होता है । मल्लि० के मतानुसार 'सिन्धु' शब्द यहां नदी-सामान्य का वाचक है, न कि नदी विशेष का। इसके समर्थन में मल्लि० ने वैजयन्ती का "स्त्री नद्यां नदे सिन्धुर्देशभेदेऽम्बुधौ गजे" यह उद्धरण दिया है, किन्तु मल्लि० के पाठ की अपेक्षा 'तामतीतस्य सिन्धुः' यह पाठ अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि मालव में 'काला सिन्धु' नाम की एक नदी भी है, जो चम्बल नदी में आ मिलती है। इसका समर्थन सारोद्धा० और सुमति० के द्वारा हो जाता है। इसके अनुसार 'सिन्धु' शब्द से यहां इसी नदी-विशेष का ग्रहण होता है न कि 'निर्विन्ध्या' का। मल्लि० को सम्भवतः इस 'काला-सिन्धु' नाम की नदी का पता नहीं था। इसके अतिरिक्त मल्लि० का 'अतीतस्य' का 'एतावन्तं कालमतीत्य गतस्य' अर्थात् इतने समय तक परदेश गए हुए तेरे—यह अर्थ करना निरी खेंचातानी ही है। इसके अतिरिक्त कवि ने 'सिन्धु को कम जलवाली (प्रतनु-सलिला) कार्श्य-प्राप्त और एक धार में ही बहनेवाली (वेणीभूत०) बताया है, किन्तु निर्विन्ध्या तो बड़े वेग से क्षुब्ध (वीचिक्षोभ०) चट्टानों से टकराती गिरती (स्खलितसुभगं) और भँवरों से भरी हुई (दर्शितावर्तनाभेः) बतलाया है, अतः यहां 'सिन्धु' नदी 'निर्विन्ध्या' नदी से भिन्न ही है।

वेणीभूत० =वेणीभूत से अभिप्राय 'एक–वेणीभूत' का है । देखिए– अभि० शा० VII. २१, 'नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी' ।

सौभाग्यम् =जिसके लिए स्त्री के हृदय में प्रेम है और जिसे वह चाहती है वह पुरुष 'सुभग' (भाग्यशाली) होता है ।

कवि का तात्पर्य सिन्धु नदी को विरहिणी बताना है, जो वियोग में एक ही वेणी बांधे रखती है, सूख कर पीली पड़ गई है । मेघ उसका प्रिय है, जो बरस कर (संभोगद्वारा) उसकी कृशता को दूर कर देगा । इस तरह मेघ और नदी में नायक-नायिका का व्यवहार–समारोप होने से समासोक्ति अलङ्कार है ॥२९॥

प्राप्यावन्ती[1]नुदयनकथाकोविदग्राम[2]वृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामुपसर[3] पुरीं श्रीविशालां विशालाम् ।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृ त[4]मिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥३०॥

अन्वयः––उदयन-कथा-कोविद-ग्राम-वृद्धान् अवन्तीन् प्राप्य (त्वम्) सुचरित-फले स्वल्पीभूते गां गतानाम् स्वर्गिणाम् शेषैः पुण्यैः हृतम् कान्तिमद् दिवःखण्डम् इव (स्थिताम्) पूर्वोद्दिष्टाम् श्री विशालाम् विशालाम् पुरीम् उपसर ॥३०॥

पदार्थः––उदयनकथा-कोविद-ग्राम-वृद्धान् =जहां के गावों के वृद्ध उदयन राजा की कथाओं के जानकार हैं । अवन्तीन् =अवन्ती नाम के देश में । प्राप्य= पहुँच कर । सुचरित-फले=पुण्य-फल के । स्वल्पीभूते=कम हो जाने पर । गां गतानाम् =पृथ्वी पर आए हुए । स्वर्गिणाम् =स्वर्ग में रहनेवालों के । शेषैः पुण्यैः=बचे–खुचे पुण्यों द्वारा । हृतम् इव=लाया हुआ सा । दिवः=स्वर्ग का । एकम् कान्तिमत् खण्डम् =एक उज्ज्वल टुकड़ा । श्रीविशालाम् =सम्पत्ति-शाली । विशालां पुरीम् =उज्जयिनी नगरी को । उपसर =पहुंचना ॥३०॥

भाषानुवादः––अवन्ती देश में पहुंच कर, जहां के गावों के वृद्ध पुरुष उदयन राजा की कथाओं से अच्छी तरह परिचित हैं, (तुम) पूर्वनिर्दिष्ट विशाल सम्पत्तिवाली विशाला (उज्जयिनी) नगरी में जाना, जो ऐसी लगती है कि मानो पुण्य–फल के कम हो जाने पर पृथ्वी पर (लौट) आए स्वर्गवालों के

१–अवन्तीम् विल्स० । २–ज्ञान । ३–अनुसर मल्लि०, विल्स० इत्यादि, ॥ ४–कृतमिव का० पा० ।

बचे-खुचे पुण्यों द्वारा (अपने साथ) लाया गया स्वर्ग का एक उज्ज्वल टुकड़ा हो ॥३०॥

व्याकरणम्—उदयनकथाकोविद० =उदयनस्य वत्सराजस्य कथानां कोविदा ग्रामेषु वृद्धा येषां तान् (ब० व्री०) मल्लि० कोविद शब्द को पृषोदरादिवत् सिद्ध करते हैं। ओकसः वेद्य-स्थानस्य विदाः (जानकार) (ओ लुप्त हुआ) √विद्+अ (कः)। भानु जी दीक्षित कोविद का निर्वचन इस प्रकार करते हैं–को वेदस्य विदाः अथवा कवि (को का स० एक०) विदा ज्ञानं येषां ते अवन्तीन्=देश वाचक शब्द संस्कृत में बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं—जैसे=मगधाः, पाञ्चालाः, विदेहाः इत्यादि । प्राप्य=प्र+√आप् (स्वा० प०), पाना+य (ल्यप्) । सुचरितफले स्वल्पीभूते=सति सप्तमी (Locative absolute) । स्वर्गिणाम्=√स्वर्ग +इन्, षष्ठी बहु० । गतानाम्= गम् +त (क्त), ष० व०। दिवः=द्यौ का ष० एक० । कान्तिमत्=कान्ति+ मतुप् । पूर्वोद्दिष्टाम्=पूर्व+उत्+√दिश्(तु० उ०, आज्ञा देना, बताना) +त+आ, द्वि० एक० । श्रीविशालाम्=श्रिया विशालाम् सम्पन्नाम् (तृ० तत्पु०) विशालाम्=विशिष्टाः विविधाः वा शालाः (महल) यस्याम् । विशेष्य शब्द मान कर यह उज्जयिनी का ही नामान्तर है । यदि विशाला 'वैशाली' ही है, जिसका वर्णन भाग० पु० में आया है, तो इस पुराण की यह पंक्ति देखिए—'विशाला वंशकृद्राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम् ।' उपसर=उप+√सृ, (भ्वा० प०) (सरकना चलना) लोट्, म० पु० एक०॥३०॥

विशेषः—अवन्तीन्=यह देश मालव का ही एक भाग है और उज्जयिनी इसकी राजधानी है ।

उदयनकथा=वत्सराज उदयन, वासवदत्ता तथा पद्मावती की कथा 'कथा-सरित्सागर' में वर्णित है । भास के नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' में भी उदयन की कथा है। इस कथा का सारांश पूर्वमेघ श्लोक ३२ के विशेष में देखिए ।

विशालाम्=यह उज्ज्यिनी का दूसरा नाम है। वल्लभ और सारोद्धा० के अनुसार 'विशालाम्' पुरीम् का विशेषण है और इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—'विशिष्टाः विविधाः वा शालाः प्राकारा यस्यां सा ।'

स्वल्पीभूते सुचरित०—इस सम्बन्ध में देखिए 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।' भ० गी० IX. २१ यहां पर भी पुण्यों

के क्षीण होने पर स्वर्ग से उन लोगों का मर्त्यलोक में प्रवेश करना बताया है, जिन्होंने वहां के सब अच्छे अच्छे भोगों को भोग लिया है। और देखिए— विक्र० II 'ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगतः स्वर्ग इति।

यहां प्रकृत (प्रस्तुत) विशाला में अप्रकृत (अप्रस्तुत) स्वर्ग-खण्ड की संभावना की गई है, इसलिए उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥३०॥

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३१॥

अन्वयः—यत्र (विशालायाम्) प्रत्यूषेषु पटु मदकलम् सारसानां कूजितम् दीर्घीकुर्वन् स्फुटित-कमला-मोद-मैत्री-कषायः, अङ्गानुकूलः शिप्रा-वातः प्रार्थनाचाटुकारः प्रियतमः इव स्त्रीणाम् सुरत-ग्लानिम् हरति ॥३१॥

पदार्थः—यत्र=जहां (विशाला में) । प्रत्यूषेषु=प्रत्येक उषाकाल में (प्रातः) । पटु=तीव्र। मद-कलम्=मद से मीठा । कूजितम्=शब्द को। दीर्घीकुर्वन्=बढ़ाता हुआ, विस्तार देता हुआ । स्फुटित-कमलामोद०=पूर्ण विकसित कमलों के गन्ध के सम्पर्क से सुगन्धित। अङ्गानुकूलः=अङ्गों को सुख देनेवाला। शिप्रावातः=शिप्रा नदी का वायु । प्रार्थनाचाटुकारः=(रति) याचना में मीठी-मीठी बातें करनेवाले। प्रियतम इव=प्रेमी की तरह। सुरत-ग्लानिम्=संभोग की थकावट को। हरति=दूर करता है ॥३१॥

भाषानुवादः—जहां (विशाला में) प्रातः सारस-पक्षियों की ऊंची और मद से मीठी ध्वनि को विस्तार देता हुआ, पूर्ण-विकसित कमलों की गन्ध के संसर्ग से सुगन्धित (तथा) अङ्गों को सुख देनेवाला शिप्रा नदी का वायु (रति की) याचना में चिकनी-चुपड़ी बातें बनानेवाले प्रेमी की तरह स्त्रियों की रति से पैदा हुई थकावट को दूर करता है ॥३१॥

व्याकरणम्—सारसानाम्=सरसि चरन्ति इति, सरस्+अण् सारसाः तेषाम्। दीर्घीकुर्वन्=अदीर्घं दीर्घं सम्पद्यमानं करोतीति दीर्घीकुर्वन्, दीर्घ+च्वि +√कृ, (तना० उभ०) +अत् (शतृ)। स्फुटितकमलामोद०=स्फुटितानां कमलानाम् आमोदेन सह या मैत्री तया कषायः सुगन्धितः। मैत्री=मित्रस्य भावः इति, मित्र+अण्, स्त्रियाम्। यहां अण् के स्थान में 'घञ्' भी हो सकता है।

'कटु-तिक्त–कषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः ।' अङ्गानुकूलः=अङ्गानामनुकूलः, (ष० तत्पु०) । प्रार्थनाचाटुकारः=प्रार्थनायां चाटुकारः, (स० तत्पु०) । प्रार्थना= प्र + √ अर्थ् + युज् भावे । चाटुकारः = चाटु करोति इति, चाटु + √कृ + अण् कर्त्तरि ॥३१॥

विशेषः—दीर्घीकुर्वन् = जब तक वायु चलता रहता है तब तक सारस बोलते ही रहते हैं । इसलिए 'शिप्रावातः' को 'दीर्घीकुर्वन्' कहा है ।

शिप्रा = यह एक नदी का नाम है जिसके किनारे पर उज्जयिनी स्थित है । देखिए—रघु VI. ३५ 'शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ।'

प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः = कुछ टीकाकारों ने यहां खण्डिता नायिका की विवक्षा की है । जब खण्डिता स्त्री पति के आचरण पर सन्देह करती है, तो पति पत्नी को प्रसन्न करने के लिए चिकनी–चुपड़ी बातें बनाता है, जिससे वह अपना काम बना सके । देखिए—कुमार सं० VIII. २५ चाटुकार इव दक्षिणानिलः । और देखिए पूर्वमेघ श्लोक ४१ 'तस्मिन् काले नयन-सलिलं प्रोषितां खण्डितानां शान्तिं नेयं प्रणयिभिः..........।' किन्तु मल्लि० के कथनानुसार यहां खण्डिता नायिका का कोई प्रसङ्ग नहीं है । खण्डिता नायिका के साथ पहले जब रति ही नहीं हुई, फिर रति की थकावट को दूर करने का प्रश्न ही नहीं उठता; अतः 'प्रार्थना-चाटुकारः' की 'खण्डिता-नायिकानुनेता' ऐसी व्याख्या न करके "पुनः सुरतार्थं प्रिय–वचन–प्रयोक्ता" यों व्याख्या करनी चाहिए । 'खण्डिता नायिका' के लिए देखिए—दशरूपक 'तिष्ठेदीर्ष्याकषायिता खण्डिता ।' साहित्यदर्पण में इसका लक्षण यों दिया गया है 'पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः । सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता' ॥३–७५॥

चाटुकारः = देखिए—कुमार० VIII. 'आचचाम' सलवङ्गकेशरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ।'

यत्र स्त्रीणां सुरत० = इस प्रकार के विचार के लिए देखिए०–अमरु० ५८ 'प्रातर्वाति मधौ प्रकाशविकसद्राजीवराजीरजो जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः ।'

कवि ने इस श्लोक में 'शिप्रावातः' की प्रियतम से समता दिखाई है इसलिए यहां पूर्णोपमा अलंकार है ॥३१॥

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः ।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३२॥

1962(S)

अन्वयः—अत्र वत्सराजः प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं जह्रे । अत्र तस्य एव राज्ञः हैमम् ताल-द्रुमम् अभूत् । अत्र किल नलगिरिः दर्पात् स्तम्भम् उत्पाट्य उद्भ्रान्तः—इति अभिज्ञः जनः आगन्तून् बन्धून् रमयति ॥३२॥

पदार्थः—अत्र=यहाँ (उज्जयिनी में) । वत्सराजः=वत्सदेश का राजा उदयन । प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्= (उज्जयिनी के राजा) प्रद्योत की प्यारी कन्या (वासवदत्ता) को । जह्रे =हर ले गया था । राज्ञः=राजा का । हैमम् तालद्रुम-वनम्-अभूत् =सुनहरी तालों के वृक्षों का वन था । किल= ऐसा सुनते हैं कि (किलेत्यैतिह्ये) । नलगिरिः=इस नाम का हाथी, (यहां उस चण्ड स्वभाव वाले हाथी से अभिप्राय है जो कि प्रद्योत को इन्द्र के द्वारा दिया गया था) । दर्पात्=अभिमान से, मद से । स्तम्भम् =खम्बे को । उत्पाट्य= उखाड़कर । उद्भ्रान्तः=फिरता रहा (घूमा) । इति=इस प्रकार, यों । अभिज्ञः जनः=(पूर्व कथाओं को) जानने-वाले आदमी । आगन्तून् बन्धून्=(अन्य देशों व स्थानों से) आए हुए बन्धुओं को । रमयति=प्रसन्न करते हैं, मन बहलाया करते हैं ॥३२॥

भाषानुवादः—यहां (उज्जयिनी में) वत्सराज (उदयन) प्रद्योत राजा की प्रियपुत्री (वासवदत्ता) को हर ले गया था; यहां उसी राजा प्रद्योत का सुवर्णमय (सुनहरी) ताल-वृक्षों का वन था ; कहते हैं कि यहां नलगिरि (हाथी) मद के कारण खम्बे को उखाड़ कर फिरता रहा— इस प्रकार (पुरानी कथाओं के) जानकार लोग (देश-देशान्तरों से) आए हुए बन्धुओं का मनोविनोद करते हैं ।

व्याकरणम्—वत्सराजः=वत्सानां राजा ; "राजाहः-सखिभ्यष्टच्" इति 'टच्' प्रत्ययः । राजन् में टच् (अ) प्रत्यय लग कर 'राज' शब्द बना । इसके रूप 'राम' के समान होंगे । प्रियदुहितरम्=प्रिया दुहिता ताम्, दुहितृ की द्वि० ए० व० । दुहितृ=दूरे हिता अथवा दुहिता दुहिता (यास्क) । जह्रे=√हृ, (भ्वा० उभ०) (ले जाना), लिट् प्र० पु० एक० । राज्ञः=राजन् की षष्ठी एक व० । हैमम् =हेम्न इदम्, हेमन्+अ । अभूत्= √भू, लुङ् प्र० पु० एक० । उत्पाट्य=

उत्+√पद्(चु०उभ०)+य। उद्भ्रान्तः=उत् √भ्रम्,(भ्वा० प०)+त(क्त), प्र० ए० व०। अभिज्ञः=अभि+√ज्ञा, (क्र्या० उभ०) (जानना)+अ (क) प्रथमा एक०। आगन्तून्=आ√गम् (भ्वा प०)+तु (उणादि) रमयति= √रम् (भ्वा० आ०)+णिच् ॥३२॥

विशेषः—प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्=मल्लि० इस श्लोक को तथा इसके बाद आने वाले 'हारांस्तारान्......' श्लोक को प्रक्षिप्त बताता है, परन्तु मल्लि० का मत ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ये दोनों श्लोक 'पार्श्वाभ्युदय' में पाए जाते हैं। 'पार्श्वाभ्युदय' का कर्त्ता जिनसेन आठवीं शताब्दी में हुआ और मल्लि० उसके बाद चौदहवीं शताब्दी में हुआ।

वल्लभ के कथनानुसार उदयन राजा की कथा 'बृहत्कथा' में दी गई है। बृहत्कथा को गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में लिखा। इसका संस्कृत अनुवाद क्षेमेन्द्र तथा सामदेव ने 'बृहत्कथा-मञ्जरी' और 'कथा-सरित्सागर' में किया है। कथासरित्सागर में दी गई उदयन की कथा का सारांश यह है—"उज्जयिनी के राजा चण्ड महासेन की 'वासवदत्ता' नाम की एक कन्या थी। राजकुमारी ने स्वप्न में वत्सराज उदयन को देखा और उसे देखते ही उसपर मोहित हो गई। किसी उपाय से राजकुमारी ने उदयन को अपने प्रेम का परिचय करा दिया और उदयन उसको पिता के घर से ले भाग गया।" सारोद्धारिणी के अनुसार चण्ड महासेन का दूसरा नाम प्रद्योत था, जिसका परिचय हमें इस श्लोक से मिलता है। सुमतिविजय चण्डमहासेन को चण्डप्रद्योत भी कहता है ॥३२॥

इस श्लोक में अतीत की बात प्रत्यक्ष सी बताई गई है, अतः इसमें 'भाविक' अलङ्कार है। लक्षण यह है—जहाँ अतीत अथवा भविष्य की कोई अत्यद्भुत बात इस प्रकार वर्णन की जाय जैसे कि वह हमारी आँखों के आगे प्रत्यक्ष-सी हो जाय वहां 'भाविक' अलङ्कार होता है ॥३२॥

हारांस्तारांस्तरलगुटि[1]कान्कोटिशः शंख-शुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥३३॥

१— ···गुलिकान् सारो० स० तो० म० सिं०।

अन्वयः—यस्यान् (विशालायाम्) कोटिशः विपणिरचितान् तरल-गुटिकान् तारान् हारान्, शंख-शुक्तीः, शष्प-श्यामान् उत्मयूख-प्ररोहान् मरकत-मणीन्, विद्रुमाणां भङ्गान् च दृष्ट्वा सलिल-निधयः तोयमात्रावशेषाः संलक्ष्यन्ते ॥३३॥

पदार्थः—यस्याम्=जिस (विशाला) में, उज्जयिनी में। विपणिरचितान् =बाजारों में (बिक्री के लिए) सजाए गए। तारान्=शुद्ध। तरलगुटिकान् जिनमें महारत्न मध्यमणि थे। कोटिशः=करोड़ों। हारान्=मोतियों की मालाओं को। शङ्खशुक्तीः=शङ्ख और सीपियों को। शष्पश्यामान्=घास के समान गूढ़े हरे रंगवाली। उन्मयूखप्ररोहान्=जिनमें अङ्कुरों के समान चमकती हुई किरणें प्रकट हो रहीं थीं। मरकत-मणीन्=मरकत मणियों को। विद्रुमाणां-भङ्गान्=विद्रुमों (मूगों) के टुकड़ों को। दृष्ट्वा=देखकर। सलिलनिधयः =समुद्र। तोयमात्रावशेषा=जिनमें केवल जल ही जल बाकी रह गया है अर्थात् खाली। संलक्ष्यन्ते=दिखाई देते हैं॥३३॥

भाषानुवाद—जहाँ (विशाला में) बाजारों में (बिक्री के लिए) सजाए गए, मध्यभाग में महारत्नों वाले, करोड़ों असली मोतियों के हारों, शङ्खों व सीपियों को, घास के समान गूढ़े हरे रंग की तथा अङ्कुरों की तरह ऊपर को उठी हुई किरणों वाली मरकत मणियों को, एवं विद्रुमों (मूंगों) के टुकड़ों को देखकर समुद्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कि इनमें (अब) पानी-पानी ही बाकी रह गया हो ॥३३॥

व्याकरणम्—विपणि-रचितान्=विपणिषु पण्यवीथिकासु रचितान् प्रसारितान्। तरलगुटिकान्=तरलभूता गुटिका येषां ते (ब० व्री०)। शंख-शुक्तीः =शंखाश्च शुक्तयश्च तान् (द्वन्द्व)। शष्पश्यामान्=शष्पम् इव श्यामान्। उन्मयूख-प्ररोहान्=उद्गता मयूखा येषां ते (ब० व्री०) उन्मयूखाः तादृशाः प्ररोहा येषां ते उन्मयूखप्ररोहास्तान् (बहुव्री०)। तोयमात्रावशेषाः=तोयम् एव तोयमात्रम् तदवशेषो येषां ते तादृशाः (ब० व्री०)। संलक्ष्यन्ते=सम्+√लक्ष, चु० उभ० (देखना) कर्मणि लट् प्र० पु० बहु० ॥३३॥

विशेषः—तरान्=इसका अर्थ सुमतिविजय ने 'उज्ज्वलान्' किया है। सरस्वती तीर्थ 'स्थूलानुज्ज्वलान्' तथा मल्लि० 'शुद्धान्' देता है।

तरलगुटिकान्=इसका पाठान्तर 'तरल-घुटिकान्'। यहाँ ०घुटिकान् सम्भवतः ०गुटिकान् या ० गुलिकान् का अशुद्ध रूप है। सरस्वती० इसकी 'निस्तलमुक्ताफलान्' तथा सारोद्धा० 'तरला नायकमणयस्त एव गुलिका येषु तान्' इस प्रकार अर्थ करते हैं।

तोयमात्रावशेषाः=समुद्र को 'रत्नाकर' भी कहते हैं परन्तु जब कि इसके सब रत्न व मणियां विशाला में ही एकत्रित हो गई हैं, तब इसका 'रत्नाकर' यह नाम अयथार्थ हो गया है, तभी कहा गया है कि समुद्रों में केवल जल ही बाकी रह गया है।

मल्लि० के मतानुसार यहां "प्रद्योतस्य प्रियदुहितरम्......" और "हारांस्तारांस्तरल····" के अतिरिक्त निम्नलिखित एक और प्रक्षिप्त श्लोक मिलता हैः—

पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः ॥३३—क॥

अन्वयः—(हे मेघ!) यत्र वाहाः पत्रश्यामाः (अतएव) दिनकर-हय-स्पर्धिनः (तथा) शैलोदग्राः करिणः प्रभेदात् त्वमिव वृष्टिमन्तः, योधाग्रण्यः संयुगे प्रतिदशमुखम् तस्थिवांसः चन्द्रहास-व्रणाङ्कैः प्रत्यादिष्टाभरण-रुचयः ॥३३—क॥

भाषानुवादः—(हे मेघ!) जहाँ घोड़े पत्तों की तरह सुन्दर रंग के (इसीलिए) सूरज के घोड़ों के साथ प्रतियोगिता करनेवाले हैं (और) पर्वतों जैसे ऊँचे हाथी मद-जल के बहने के कारण तुम्हारी तरह वर्षा करते हैं; (जहां) सैनिकों के नेता लड़ाई म रावण के विरुद्ध अभियान (चढ़ाई) करके चन्द्रहास (रावण की तलवार) के घावों के चिह्नों द्वारा आभूषणों (गहनों) की कान्ति पर लात मारते हैं ॥३३-क॥

विशेषः—मल्लिनाथ आदि कितने ही विद्वान् इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं। यह उत्तरमेघ में भी आया हुआ है। अतः इसका व्याकरण और विशेष वहीं श्लोकसंख्या १३ में देखिए।

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै[1]-
बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः[2] ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं[3] नयेथा
लक्ष्मीं[4] पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥३४॥

अन्वयः—जालोद्गीर्णैः केशसंस्कारधूपैः उपचितवपुः (तथा) बन्धु-प्रीत्या भवनशिखिभिः दत्तनृत्योपहारः (त्वम्) कुसुम-सुरभिषु ललित-वनिता-पाद-रागाङ्कितेषु हर्म्येषु अस्याः लक्ष्मीं पश्यन् अध्वखेदं नयेथाः ॥३४॥

पदार्थः—जालोद्गीर्णैः=(खिड़कियों की) जालियों से निकलते हूए । केशसंस्कारधूपैः=(स्त्रियों के) बालों को सुगन्धित करने वाले धूप से । उपचितवपुः=परिपुष्ट शरीरवाला । बन्धु-प्रीत्या=भ्रातृस्नेह से । भवन-शिखिभिः=पालतू मोरों द्वारा । दत्त-नृत्योपहारः=जिसको नाच का उपहार दिया गया है । कुसुमसुरभिषु=फूलों से सुगन्धित । ललित-वनिता-पाद-रागाङ्कितेषु=सुन्दर नारियों के पैरों में लगाए गए महावर से चिह्नित । हर्म्येषु=महलों में । अस्या लक्ष्मीं पश्यन्=इस उज्जयिनी की शोभा को देखता हुआ । अध्वखेदम्=मार्ग की थकावट को । नयेथाः=दूर करना ॥३४॥

भाषानुवादः—(खिड़कियों की) जालियों से निकलते हुए (स्त्रियों के) बालों को सुगन्धित करने वाले धूप (के धूएँ) से परिपुष्ट शरीरवाला होकर बन्धुस्नेह के कारण पालतू मोरों द्वारा नृत्य का उपहार दिया जाता हुआ (तू) फूलों से सुगन्धित तथा सुन्दरियों के पैरों में लगाए गए लाक्षा-रस (महावर, मेंहदी) से चिह्नित महलों में इस (उज्जयिनी) की श्री (शोभा) को देखता हुआ मार्ग की थकावट को दूर करना ॥३४॥

व्याकरणम्—जालोद्गीर्णैः=जालेभ्यः उद्गीर्णाः (प० त०); उद्गीर्णैः—उद्+√गॄ, (तुद० प०)+त (न), तृ० बहु० । केशसंस्कारधूपैः=केशानां संस्कारस्तस्य धूपैः (ष० तत्पु०) संस्कार=सम्+√कृ+घञ् (करणे) । 'अत्र संस्कारधूपयोस्तादर्थ्येऽपि यूपदार्वादिवत् प्रकृतिविकारत्वाभावादश्वघासादिवत् षष्ठीसमासो न चतुर्थीसमासः' मल्लि० । उपचितवपुः=उपचितं (उप+√चि+

१—०धूमैः सु० वि० । २—०नृत्तोपचारः का० पा० । ३—अध्वखिन्नान्तरात्मा का० पा० । ४—मुक्त्वा खेदं वल्ल०, खेदं नीत्वा सारो० सु० वि०, त्यक्त्वा खेदं विल्स० रात्रिं नीत्वा ।

वत) वपुः यस्य सः (ब० व्री०) बन्धुप्रीत्या=बन्धौ बन्धुरिति वा प्रीतिः तया। दत्तनृत्योपहारः=दत्तो नृत्यमेवोपहारः (उप+√हृ+घञ् भावे) उपायनं यस्मै सः (ब० व्री)। कुसुमसुरभिषु=कुसुमैः सुरभिषु (तृ० तत्पु०) ललित-वनितापाद०=ललिवनितानां पादरागेण (√रञ्ज्+घञ्+करणे या भावे तेन) अङ्कितेषु हर्म्येषु। लक्ष्मीम्=लक्षयति नीतिमन्त पुमांससिति, √लक्ष्+मुट्+ई। नयेथाः=√नी (भ्वा० आ०), वि० लिङ् म० पु० ॥३४॥

विशेषः—केशसंस्कार०=इसके स्थान पर "केशसंस्कारधूमैः' यह पाठान्तर है किन्तु "०धूपैः" वाला पाठ ठीक है।

बन्धुप्रीत्या=बादल और मोर में स्वाभाविक मैत्री है। इसी विचार से मोरों को बादल का 'बन्धु' कहा गया है। इसी प्रकार उत्तरमेघ में 'तन्मध्ये च स्फटिक-फलका····नीलकण्ठः सुहृद्वः' उत्तरमेघ १९, इस श्लोक में मोर को बादल का मित्र कहा गया है। मालविका० नाटक में भी 'मोर पुष्कर की गम्भीर ध्वनि को बादल का गर्जन समझ कर ऊंची गर्दन करके उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

दत्तानृत्योपहारः=दशरूपक के अनुसार 'भवेद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रितम्' अर्थात् भावों की अभिव्यक्तिवाला नाच 'नृत्य' ह और जिस नाच में ताल और लय हों वह 'नृत्त' है। तुच्छ या छोटे पशु–पक्षियों का नाच नृत्त है। देखिए–पूर्वमेघ श्लो० ३८।

ललितवनितापाद०=देखिए—अभि० शा० IV. ४ निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।

अध्वखेदं नयेथाः=इसका पाठान्तर 'अध्वखिन्नान्तरात्मा' है, जिसका यह अर्थ है—'मार्ग से जिसका अन्तरात्मा थक गया है।' अन्तिम पाद में 'लक्ष्मीं पश्यन्' के स्थान पर नीचे लिखे पाठान्तर हैं–(१) मुक्त्वा खेदं-बल्लभ (२) खेदं नीत्वा-सुमति० और सारोद्धा० (३) त्यक्त्वा खेदं–विल्सन (Wilson) (४) नीत्वा खेदं–के० पी० पाठक। सुमति और सारोद्धा० 'अध्वखिन्नान्तरात्मा' पाठ मानकर प्रकृत श्लोक में क्रियापद न होने से इस को तथा आगे आने वाले श्लोक को युग्मक या युगल मानते हैं। अर्थात् उनके विचार में इस श्लोक का और इसके बाद के श्लोक का इकट्ठा अर्थ होता है। मल्लि० ऐसा नहीं करता क्योंकि उसने तीसरे पाद का पाठ 'अध्व–खेदं नयेथाः' इस प्रकार मानकर क्रियापद दे दिया है। हमने भी मल्लि० का पाठ लिया है ॥३४॥

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम [1]चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या
स्तोयक्रीडानिरत[2]युवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥३५॥

अन्वयः—भर्तुः कण्ठच्छविः इति गणैः सादरम् वीक्ष्यमाणः (सन्) पुण्यम् (तथा) कुवलय-रजोगन्धिभिः तोय-क्रीडा-निरत-युवति-स्नान-तिक्तैः गन्धवत्याः मरुद्भिः धूतोद्यानम् त्रिभुवनगुरोः चण्डीश्वरस्य धाम यायाः ।३५।

पदार्थः—भर्तुःकण्ठच्छविरिति = स्वामी (शिवजी) के गर्दन की शोभा के समान (शोभावाला) है, इस विचार से। गणैः=शिवजी के सेवकों से। सादरम्=आदरपूर्वक, आदर के साथ। वीक्ष्यमाणः=देखा जाता हुआ। पुण्यम्=पवित्र । कुवलयरजोगन्धि भिः=कमलों की धूलि (Pollen) की गन्धवाले । तोयक्रीडानिरतयुवति० = जल-क्रीड़ा में लगी हुई स्त्रियों के स्नान से सुवासित। गन्धवत्याः = गन्धवती नदी के। मरुद्भिः= पवनों से। धूतोद्यानम् = जिसके उपवन (बाग) प्रकम्पित (हिलाए जाते) हैं। त्रिभुवन-गुरोः=तीनों लोकों के स्वामी। चण्डीश्वरस्य = पार्वती के पति (शिवजी) के। धाम=स्थान (महाकाल) को। यायाः=जाना ॥३५॥

भाषानुवादः—(यह मेघ) स्वामी के गले की-जैसी शोभावाला है—इस विचार से गणों द्वारा आदर के साथ देखा जाता हुआ (तू) तीनों लोकों के स्वामी पार्वती-नाथ के पवित्र स्थान (महाकाल) को जाना, जहां के उद्यान गन्धवती नदी के पवन से—जो कमलों की धूलि लिए हुए हैं (तथा) जो जल-क्रीड़ा में लगी हुई नवयुवतियों के स्नानीय (चूर्ण) से सुवासित रहता है—झकोरे रहते हैं ॥३५॥

व्याकरणम्—कण्ठच्छविः=कण्ठस्येव छविः शोभा यस्यासौ (बहुव्री०)। वीक्ष्यमाणः=वि+√ईक्ष्, (भ्वा० आ०) (देखना)+शानच् (कर्मणि), प्र० एक०। कुवलयरजो०=कुवलयानां रजः (ष० तत्पु०) कुवलयरजः तस्य यो गन्धः स येषामस्तीति तैः (ब० व्री०); बहुव्रीहि समास के अन्त में 'गन्ध' शब्द को 'इ' लगकर 'गन्धि' हो जाता है। तोयक्रीडानिरतयुवति०=तोये क्रीडा तोय-क्रीडा तासु निरतानाम् आसक्तानां (स० तत्पु०) युवतीनां यत् स्नानं स्नानीयं

१—चण्डेश्वरस्य विल्स०। २—०विरत विल्स०।

चन्दनादि तेन तिक्तैः सुवासितैः। स्नानम्—स्नान्ति जना अनेन इति स्नानम्, करणे ल्युट्। धूतोद्यानम्=धूतानि (√धू+त), कम्पितानि उद्यानानि यस्मिन् तत् (धाम) (ब० व्री०) । त्रिभुवनगुरोः=त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् (समाहारे द्विगुः) तस्य गुरोस्त्रैलोक्यनाथस्य। चण्डीश्वरस्य=चण्ड्याः ईश्वरः तस्य। धाम=नान्त नपुं० द्वि० ए०व०। यायाः=√या, (अदा० प०) (जाना), विधि लिङ्, म० पु० एक० ॥३५॥

विशेषः—भर्तुः कण्ठच्छविरिति = समुद्र-मन्थन से निकले हुए 'कालकूट' विष को शिवजी ने निगल लिया था, जिससे उनका गला काला हो गया। इस लिए उनको 'नीलकण्ठः' अथवा 'कण्ठे-कालः' इन नामों से पुकारा जाता है।

तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैः=इस समास में 'तिक्तैः' का अर्थ 'सुवासितैः' है, "कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः" इति हलायुधः। यहां 'गन्धिभिः' तथा 'तिक्तैः' दो विशेषणों का प्रयोग अतिशय गन्ध को सूचित करता है।

गन्धवती = यह मालव प्रान्त में उज्जैन के पास बहने वाली एक छोटी नदी है।

त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य = तीनों भुवनों के स्वामी चण्डी (पार्वती) के पति (नाथ) के पवित्र स्थान पर। इससे 'महाकाल' की ओर संकेत किया गया है, जिसका वर्णन अगले श्लोक में है। तुलना कीजिए—'उज्जयिन्यां महाकालम् इति देवतायतनमस्ति। तत्र परमेश्वरः सदा संनिधत्ते, सर्वेभ्यो वरांश्च ददातीति प्रसिद्धम्। तस्मात् त्रिभुवनगुरोः इत्युक्तम्।'

चण्डेश्वरस्य=यह पाठ अच्छा नहीं। इसका अर्थ 'चण्ड' (इस नाम का एक गण) का स्वामी अथवा चण्ड (उग्र) स्वभाववाला देव। दूसरे अर्थ में समास कर्मधा० है, (चण्डश्चासौ ईश्वरश्च)। गण शिव के उपासक या सेवक हैं।

इस श्लोक में 'उदात्त' अलंकार है जिसमें किसी की विभूति या महत्त्व का वर्णन हो, वहां 'उदात्त' अलंकार होता है ॥३५॥

अप्यन्यस्मिञ्जलधर ! महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति[1] भानुः।
कुर्वन्सन्ध्या-बलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
[2]माभन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥३६॥

१–अभ्येति म० सि० सारो०, सु० वि०, बल्ल०, विल्स०। २–आमन्त्राणाम्।

अन्वयः—हे जलधर महाकालम् अन्यस्मिन् अपि काले आसाद्य ते (तत्र तावत्) स्थातव्यम् यावत् भानुः नयन-विषयम् अत्येति। श्लाघनीयाम् शूलिनः सन्ध्या-बलि-पटहताम् कुर्वन् (त्वम्) आमन्द्राणाम् गर्जितानाम् अविकलम् फलम् लप्स्यसे ॥३६॥

पदार्थः—जलधर = बादल! (संबोधन)। महाकालम् = चण्डीश्वर के मन्दिर में। अन्यस्मिन् अपि काले =(सांझ के अतिरिक्त) और भी समय में। आसाद्य=पहुंच कर। ते=तुझे। स्थातव्यम्=ठहरना चहिए। यावत्=जब तक। भानु=सूर्य। नयनविषयम् अत्येति=आंखों के विषय को अतिक्रमण करता है, अर्थात् आँखों से ओझल नहीं हो जाता। श्लाघनीयाम्=प्रशंसनीय, अच्छी। शूलिनः=शिवजी की। सन्ध्या–बलि–पटहतां कुर्वन्=सांझ की पूजा में नगाड़े (पटह) का काम देता हुआ (तू)। आमन्द्राणाम्=कुछ–कुछ गम्भीर। गर्जितानाम्=गर्जन का। अविकलम्=सम्पूर्ण। फलम्=फल को। लप्स्यसे=प्राप्त करेगा ॥३६॥

भाषानुवादः—हे मेघ! महाकाल-स्थान पर (साँझ के अतिरिक्त) अन्य समय में भी पहुँच कर तू (तब तक वहीं) ठहरना जब तक कि सूरज आँखों से ओझल नहीं हो जाता। (वहां) शिवजी की सांझ की पूजा में अच्छे नगाड़े का काम देता हुआ तू अपने गंभीर गर्जन का पूरा–पूरा फल प्राप्त कर लेगा ॥३६॥

व्याकरणम्—जलधर=जलं धरतीति अथवा जलानां धरः, तत्सम्बुद्धौ। आसाद्य=आ+√सद्, (चुरा०उभ०) (जाना)+य। ते = युष्मद् का ष० ए०, 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी। इसका अर्थ 'त्वया' का है। देखिए–पूर्वमेघ श्लोक ७, 'गन्तव्या ते वसतिरलका'। ध्यान रहे कि अस्मद् और युष्मद् के दूसरे रूप वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त नहीं होते। स्थातव्यम् = √स्था+तव्य (कृत्य प्र०)। नयनविषयम् =नयनयोः विषयः नयन-विषयः तम्। अत्येति =अति+√इ, अदा० प० (जाना), प्र० पु० एक०। श्लाघनीयाम् = √श्लाघ्, (भ्वा० आ०) (प्रशंसा करना)+अनीय+आ, द्वि० एक०। सन्ध्या-बलि०=सम्यक् ध्यायन्त्यस्याम् इति, सम्+√ध्यै+अङ् 'सन्ध्या'। पटहस्य भावः इति, पटह+तल् 'पटहता' सन्ध्यायाः बलिः (ष० तत्पु०) तस्य पटहता ताम्। कुर्वन्=√कृ (त० उभ०) शतृ। आमन्द्राणाम्=आ (ईषद्)+मन्द्रा-

णाम् गम्भीराणाम् । अविकलम्=विगताः कलाः यस्मात् तत् विकलम्, न विकलम् इति अविकलम् । लप्स्यसे=$\sqrt{}$लभ्, भ्वा० आ० (प्राप्त करना) लृट् म० पु० एक० ॥३६॥

विशेष:—महाकालम्= महाकाल उज्जयिनी में एक तीर्थ है, जहां शिवजी की एक मूर्ति भी है। यह द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है । महाकाल शिवजी को भी कहते हैं और उनके तीर्थस्थान का भी यही नाम है। देखिए–रघु० VI ३४ 'असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः'।

अत्येति भानुः =इसका पाठान्तर 'अभ्येति भानुः' अर्थात् जब तक सूरज उदय नहीं होता। वे टीकाकार जो इस दूसरे पाठ के पक्ष में हैं, यह नहीं जानते कि बादल का शिवजी की सायं-सन्ध्या की पूजा में भाग लेना और उस रात को वहां विश्राम करना कवि को विवक्षित है जिससे अगले दिन सूर्योदय होने पर अपनी यात्रा के लिए प्रस्थान कर सके। इस सम्बन्ध में देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४०। यदि यहां प्रातः सन्ध्या विवक्षित होती तो उसके बाद दिन आना चहिए था न कि रात जैसे श्लोक ३९–४० से प्रकट है।

कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहताम्=महाकाल की पूजा के समय मेघ अपने गम्भीर गर्जन से बजते हुए नगाड़े का काम देगा, यह कवि की कल्पना है ॥३६॥

पादन्यासः[1] क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचित[2]वलिभिश्चामरैः [3]क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥३७॥

अन्वयः—तत्र पादन्यास-क्वणित-रशनाः लीलावधूतैः रत्न-च्छाया-खचित-वलिभिः चामरैः क्लान्त-हस्ताः वेश्याः त्वत्तः नख-पद-सुखान् वर्षाग्र-बिन्दून् प्राप्य त्वयि मधुकर-श्रेणि-दीर्घान् कटाक्षान् आमोक्ष्यन्ते ॥३७॥

पदार्थ:—तत्र=वहां (सन्ध्याकाल में) पादन्यास-क्वणितरशनाः=पैरों की गति के साथ जिनकी करधनियां (मेखलाएं) बजती रहती हैं। लीलावधूतैः= विलासपूर्वक हिलाए गए । रत्नच्छायाखचितवलिभिः=जिसके हत्थे (दस्ते) (कड़ों के) रत्नों की कान्ति से विभूषित हैं। चामरैः=चँवरों से। क्लान्तहस्ताः

१—पादन्यास०। २—रचित। ३—कान्त ।

वेश्याः=थके हुए हाथोंवाली नर्तकियां। नखपदसुखान्=(शरीर पर)नाखूनों के घावों को सुख देनेवाली। वर्षाग्रबिन्दून्=वर्षा की पहली बूंदों को। प्राप्य=प्राप्त करके, पाकर। त्वयि=तुम पर। मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्=भ्रमरों की पंक्तियों के समान लम्बी और तिरछी चितवन। आमोक्ष्यन्ते=छोड़ेंगी, फेकेंगी ॥३७॥

भाषानुवादः--वहां (सांझ के समय) नर्तकियां: जिनकी पैरों की चाल के साथ-साथ मेखलाएं (करधनियां) झनझनाती रहतीं हैं और जिनके हाथ (कड़ों के) रत्नों की कान्ति से विभूषित हत्थियोंवाले, विलास-पूर्वक डुलाए गए चँवरों से थक जाते हैं, तुमसे नखक्षतों को सुख देनेवाली वर्षा की पहली बूंदों को प्राप्त करके तुम पर भ्रमरों की पङ्क्तियों की तरह लम्बी और तिरछी चितवन फेकेंगी ॥३७॥

व्याकरणम्—पादन्यासक्वणितरशनाः=पादयोः चरणयोः न्यासैः। (नि+√अस् (दि०+घञ् भावे) निक्षेपैः क्वणिताः (√क्वण+क्त) शब्दायमाना रशना यासां ताः (ब० व्री०)। लीलावधूतैः=लीलया अवधूतैः (अव+√धू-+त) कम्पितैः। रत्नच्छायाखचितवलिभिः=रत्नानां कंकणमणीनां छायया कान्त्या खचिता (खच्+त कर्मणि)वलयश्चामरदण्डा येषां तैः (ब० व्री०)। क्लान्तहस्ताः=क्लान्तौ हस्तौ यासां ताः (ब० व्री०)। त्वत्तः=तुझ से, त्वत्+तः 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिल् प्रत्ययः। नखपदसुखान्=नखानां पदेषु (ष० तत्पु०) क्षतेषु सुखान् सुखकरान् 'सुखहेतौ सुखे सुखम् इति' शब्दार्णवे। वर्षाग्रबिन्दून्=अग्राः बिन्दवः(कर्मधा०) वर्षस्याग्रबिन्दवः (ष० तत्पु०) तान्। प्राप्य=प्र+√आप् स्वा० उभ० (पाना, हासिल करना)+य (ल्यप्) मधुकरश्रेणिदीर्घान्=मधुकरा भ्रमराः तेषां श्रेणयः पङ्क्तयः तद्वत् दीर्घान्। मधुकर=मधु कुर्वन्ति इति, मधु+√कृ+ट ताच्छील्ये। कटाक्षान्=कटाक्ष का द्वि० बहु०। कटाक्ष--कटौ गण्डौ अतिशयितौ अक्षिणी यत्र। कटं गण्डमक्षतीति वा। वेश्याः=वेशे भवाः √विश्=य (दिगादिभ्यो यत्); वेशः कृत्रिम आकारः तेन शोभते 'कर्मवेशाद्यत्' इससे 'य' प्रत्यय हुआ। नखपदसुखान्=नखपदेषु सुखान्। आमोक्ष्यन्ते=आ +मुच्, (तुदा० उभ०), लृट प्र० पु० बहु० ॥३७॥

विशेष:—रत्नच्छायाखचित०=इसका सारो० तथा अन्य टीकाकार निम्नलिखित अर्थ करते हैं—'रत्नच्छायाखचिता वलय उदरलेखास्तासामेव चामर-

ग्राहिणीनां यैस्ते,' परन्तु यह सन्तोषजनक नहीं है। इसका असली अर्थ यही है कि नर्तकियों के हाथों में कंगन पहिने हुए थे, जो कि रत्न–जटित थे और रत्नों की कान्ति अर्थात् अक्स उनके हाथों द्वारा डुलाये गये चँवरों के हत्थों पर पड़ता था, जिससे वे रंग-बिरंगे हो जाते थे।

चामरैः=चँवरों से। चँवर या तो चमर-मृगों के गुच्छेदार बालों से या मयूर–पंखों से बनती हैं। ये या तो राजाओं के आगे या देवताओं की मूर्त्तियों के आगे मक्खियां या कीट-पंतगों को हटाने के लिए डोलाई जाती हैं। देखिए–विक्र० IV. ४ 'व्याधूयन्ते निचुलतरुभिः मञ्जरीचामराणि'।

नखपदसुखान्=सारो० ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है—'नखपदवत्सुखजनकान् अथवा 'नखपदानां सुखान्'। इसका अर्थ 'नखपदेषु सुखान्' है। एवं इसमें 'नखपद' का अर्थ प्रेमियों द्वारा प्रियाओं के शरीर पर किए गए नख-घातों (नख के क्षतों) का है। यही अर्थ मल्लि० ने भी किया है। इस बात की पुष्टि जैन टीकाकार ने भी की है। देखिए—'वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः' रघु० XIX. ३५। और देखिए—शिशु० VII. ३९ 'नख-पदलिपयोऽपि दीपितार्था.........'। पुनः इसी पुस्तक के उत्तरमेघ का श्लोक ३६ 'वामश्चास्याः कररुहपदैः मुच्यमानो मदीयैः' भी देखिए। और देखिए कुमार० III. २९ 'सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्'।

मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्=इसके लिए देखिए—रघु० VII. ११, 'विलोलनेत्रभ्रमरैः गवाक्षाः' ॥३७॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
[1]नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३८॥

अन्वयः—पश्चात् पशुपतेः नृत्तारम्भे प्रतिनव-जपा-पुष्प-रक्तम् सान्ध्यं तेजः दधानः उच्चैः भुज-तरु-वनम् मण्डलेन अभिलीनः (सन्) भवान्या शान्तोद्वेग–स्तिमित–नयनम् दृष्टभक्तिः (त्वम्) (तस्य) आर्द्रनागाजिनेच्छाम् हर ॥३८॥

१––नृत्या०, मल्लि० सारो० इत्यादि।

पदार्थः—पश्चात् =सांझ की पूजा के बाद । पशुपतेः=शिव जी के। नृत्तारम्भे=नाच (ताण्डव) के प्रारम्भ में । प्रतिनवजपा० =अभिनव (ताजे) जाई के फूल के समान लाल २ । सान्ध्यं तेजः =सांझ की कान्ति को । दधानः धारण करता हुआ । उच्चैर्भुज-तरु-वनम् =(शिव जी की) ऊँचे भुजाओं रूपी वृक्षों के जंगल पर । मण्डलेन अभिलीनः =वृत्ताकार रूप से व्याप्त होकर । भवान्या =पार्वती के द्वारा । शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम् =भय के शान्त हो जाने से निश्चल हुई आँखों से । दृष्टभक्तिः =जिसकी भक्ति देखी गई है । आर्द्रनागाजिनेच्छाम् =हाथी के गीले चर्म (चमड़े) की इच्छा को। हर =दूर करना ।।३८।।

भाषानुवादः—पीछे शिव जी के (ताण्डव) नृत्य के आरम्भ में ताजे जपा (जाई) के फूलों के समान लाल-लाल सायंकालीन कान्ति को धारण करता हुआ, ऊंचे (शिवजी की) भुजा रूपी वृक्षों के जङ्गल पर वृत्ताकार रूप में व्याप्त होकर, पार्वती से भय-रहित आँखों द्वारा टकटकी से देखी गई भक्तिवाला (तू) शिव जी की हाथी के गीले (ताजे) चर्म की इच्छा को दूर करना (अर्थात् स्वयं चर्म का काम देना) ।।३८।।

व्याकरणम्—पशुपतेः=पशूनां पतिः (ष० तत्पु०) तस्य। 'पतिः समास एव' इससे 'पशुपति' के रूप मुनि के समान होते हैं। नृत्तारम्भे=नृत्तस्यारम्भे। प्रतिनवजपापुष्परक्तम्=प्रतिनवम् (नवं प्रतिगतं प्रतिनवं) प्रत्यग्रं यत् जपा-पुष्पं तद्वद्रक्तमरुणम्। (उपमानकर्मधा०) सान्ध्यम्=सन्ध्याया इदम्, सन्ध्या+अ, तद्धित। तेजस्=नपु० लिङ्ग० प्र० एक०। दधानः =√धा, (जु० उभ०) (धारण करना) +शानच्, प्र० एक०। कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम्। उच्चैर्भुज-तरुवनम्=उच्चैरुन्नतं भुजा एव तरवः (कर्मधा०) तेषां वनम्। अभिलीनः=अभि+ √ली, (दिवा० आ०, लेटना) +न (त) कर्त्तरि। भवान्या =भवानी का तृ० एक० । भवस्य पत्नी इति, भव+आनुक्+ङीष्, भवानी तया । शान्तोद्वेगस्तिमितनयनम्=शान्त उद्वेगो गजाजिनदर्शनभयं ययोस्ते अत एव स्तिमिते निश्चले नयने यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रि० वि०)। दृष्टभक्तिः =दृष्टा भक्तिर्यस्य सः । आर्द्रनागाजिनेच्छाम्=आर्द्रं यन्नागा-जिनं गजचर्म तत्रेच्छा ताम्। हर=√हृ, (भ्वा० उभ०, ले जाना), लोट्, म० पु० एक० ।।३८।।

विशेष:—नृत्तारम्भे='नृत्त' उस नाच को कहते हैं, जिसमें केवल ताल और लय का साथ हो, तथा 'नृत्य' वह नाच है जिसमें अभिनय द्वारा मानसिक भावों की अभिव्यक्ति हो। देखिए–द० रू० 'अन्यभावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताल-लयाश्रयम्'। तुलना कीजिए 'देवरुच्या प्रतीतो यस्ताल-मानरसाश्रितः। सविलासाद्भ्रूविक्षेपौ नृत्यमित्युच्यते बुधैः'। मल्लि० ने यहां 'नृत्त' के स्थान पर 'नृत्य' पाठान्तर दिया है। 'नृत्य' वाला पाठ इस विचार से अच्छा है।

आर्द्रनागाजिनेच्छाम्=गजासुर के मारने के बाद महादेव जी ने रुधिर से गीली उसकी खाल को अपनी ऊँची भुजाओं पर लपेट कर 'ताण्डव नृत्य' किया था। यहां पर मेघ से कहा जाता है-कि वह गजासुर की गीली खाल का स्थानापन्न हो कर शिवजी की उस खाल के प्रति उत्पन्न हुई इच्छा को पूरा करे। गजासुर के गीले चर्म को ओढ़े हुए शिव जी को देखकर पार्वती डर जाती है और उनका 'ताण्डव' नहीं देख सकतीं। यदि बादल लाल-लाल हो कर उमड़ आये, तो शिवजी 'नागाजिन' न ओढ़ कर ही नाचेंगे और पार्वती भी निर्भय हो कर नाच देखती रहेंगी। इस सम्बन्ध में देखिए कुमा० V. ६७ तथा ७८ श्लोक 'गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च' और 'गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा'। और देखिए––माल० मा० V. २३ 'प्रचलितकरिकृत्ति-पर्यन्तचञ्चन्नखाघात ………'।

दृष्टभक्तिः=यह कलिदास के व्याकरण–विरुद्ध प्रयोगों में से एक प्रयोग है। पाणिनि के नियमानुसार 'दृष्टभक्तिः' प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि 'दृष्टा भक्तिर्यस्य सः' इस तरह बहुव्री० समास में 'दृष्टा' को पुंवद्भाव नहीं हो सकता। कारण यह है कि पुंवद्भाव–विधायक 'स्त्रियाः पुँवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी प्रियादिषु' यह सूत्र प्रियादियों से भिन्न शब्दों के परे रहते ही पुंवद्भाव करता है और 'भक्ति' शब्द प्रियादियों में आ जाता है, इसलिए 'दृष्टाभक्तिः' ऐसा ही प्रयोग व्याकरण से बनता है। इसी तरह कालिदास ने रघुवंश सर्ग XII. श्लोक १६ में भी 'दृढभक्तिः' लिख कर तथा अन्यत्र भी व्याकरण का उक्त नियम भंग किया है। किन्तु वासुदेव दीक्षित सिद्धान्तकौमुदी की टीका 'बालमनोरमा' में तथा मल्लि० अपनी टीका में इन प्रयोगों को व्याकरण–सम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं–– वे 'दृष्ट' और 'दृढ' शब्दों में स्त्रीलिङ्ग न रखकर इनको भक्ति का विशेषण नहीं मानते,

प्रयुक्त विशेष्य मानते हैं । 'सामान्ये नपुंसकम्' इस नियम के आधार पर 'दृष्टम्' (देखी हुई वस्तु) है भक्ति जिसकी, दृढ–वस्तु है भक्ति जिसकी इस तरह ('प्रमाणम् वेदः' जैसे) दृष्ट और दृढ शब्दों को और भक्ति शब्द को विभिन्नलिङ्ग रखकर 'दृष्टभक्तिः' और 'दृढ़भक्तिः' को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध ही मानते हैं पर यह खींचातानी ही है जो कि संभवतः कवि को विवक्षित न हो । देखिए–'स्त्रियाः पुंवद्भाषित · · · ·' सूत्र पर बाल-मनोरमा और उल्लिखित श्लोकों पर मल्लि० की टीका ।

'भुज तरु-वनम्' में रूपक और 'सान्ध्यं तेजः दधानः' में निदर्शना अलंकार है। रूपक का लक्षण पहले दिया जा चुका है। निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है—'संभवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित् यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना' (सा०द०) । अर्थात् जहां सम्भव अथवा असम्भव वस्तुसम्बन्ध बिम्बप्रतिबिम्बभाव को बतावे अर्थात् अन्ततो गत्वा सादृश्य में पर्यवसित हो वहां 'निदर्शना' अलंकार होता है । प्रकृत में सान्ध्य तेज सन्ध्या में ही रह सकता है मेघ में नहीं, अतः 'सान्ध्यं तेज इव तेजः दधानः' यों अन्त में सादृश्य प्रकट होता है ।।३८।।

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र [1]नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः ।।
सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया[2] दर्शयोर्वी
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो[3] मा च[4] भूर्विक्लवास्ताः ।।३९।।

अन्वयः—तत्र (उज्जयिन्याम्) नक्तम् रमण-वसतिं गच्छन्तीनाम् योषिताम् सूचिभेद्यैः तमोभिः रुद्धालोके नर-पति-पथे कनक-निकष-स्निग्धया सौदामन्या उर्वीम् दर्शय; तोयोत्सर्ग–स्तनित–मुखरः च मा भूः (यतः) ताः विक्लवाः ।।३९।।

पदार्थः—तत्र=उज्जयिनी में । नक्तम्=रात को । रमण-वसतिम्=प्रेमियों के घरों को । गच्छन्तीनाम्=जाती हुई । योषिताम्=स्त्रियों के । सूचिभेद्यैस्तमोभिः=बहुत घने अन्धकार से, घुप अँधेरे से । रुद्धालोके=दिखाई देने से रुक जाने पर, न दिखाई देने पर । नरपतिपथे=राजमार्ग के, सड़क

१—रात्रौ विल्स० । २—· · च्छायया विल्स० । ३—विमुखः । ४—स्म, मल्लि० इत्यादि ।

के। कनक-निकष-स्निग्धया=कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमकने वाली। सौदामन्या=बिजली से। उर्वीम्=पृथ्वी को (मार्ग को) दर्शय=दिखाना। तोयोत्सर्ग-स्तनित-मुखरः=वृष्टि तथा गर्जन से शब्दायमान। मा भूः=मत होना। ताः विक्लवाः=वे डरपोक होती हैं ॥३९॥

भाषानुवादः--वहाँ (उज्जयिनी में) रात को (अपने) प्रेमियों के घरों को जाती हुई स्त्रियों को घने अन्धकार के कारण न दिखाई देनेवाले राजमार्ग में कसौटी पर सोने की रेखा के समान चमकने वाली बिजली द्वारा रास्ता दिखाना और बरसने एवं गरजने का शब्द न करना, क्योंकि वे डरपोक होती हैं ॥३९॥

व्याकरणम्—नक्तम्—अव्यय। रमण-वसतिम्=रमणानां वसतिम् (ष० तत्पु०)। गच्छन्तीनाम्=√गम् (भ्वा० प०) (जाना)+अत् (शतृ) स्त्री० ष० बहु०। योषिताम्=योषित् का ष० बहु०। रुद्धालोके=रुद्ध आलोकः (आ+√लोक्+घञ् करणे) यस्मिन् तस्मिन् (ब० व्री०)। नरपतिपथे=नरपतेः पथि (ष० तत्पु०), पथिन् शब्द को समास में 'अ' (टच्) हो जाता है और इसके रूप 'राम' शब्द की तरह चलते हैं। सूचिभेद्यैः=सूचिभिः भेद्यैः (ष० तत्पु०)। तमोभिः=तमस् (नपुं०) तृ० ब० अनुक्ते कर्मणि तृतीया। कनक-निकष-स्निग्धया=कनकस्य स्वर्णस्य निकषः उपलगतरेखा तद्वत् स्निग्धया। सौदामन्या=सौदामनी का तृ० एक०। सुदाम्नि मेघे भवा, (सुदामन्—पर्वत तथा ऐरावत का भी नाम ह)। उर्वीम्=उर्वी का द्वि० एक०। दर्शय=√दृश्, (भ्वा० प०) णिच्, लोट् म० पु० ए०। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरः =तोयस्य उत्सर्गः तोयोत्सर्गेण तोयोत्सर्गसहितेन स्तनितेन (मध्यमपदलो० समास) मुखरः, अथवा तोयोत्सर्गेण च स्तनितेन च मुखरः (द्वन्द्व)। मा भूः='माङि लुङ्' 'न माङ् योगे' इनसे 'अट्' आगम का प्रतिषेध हुआ। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक २८ जहां 'मा स्म भूः' इस प्रकार का प्रयोग आया है ॥३९॥

विशेषः—रमणवसतिं गच्छन्तीनां योषिताम्=यहां अभिसारिका स्त्रियों से अभिप्राय है। देखिए—'कान्तार्थिनी तु या याति संकेतं साऽभिसारिका' अमर०। और देखिए—सा० द० ११५। कवियों ने अभिसारिकाओं को बिजली के प्रकाश में रात को अपना रास्ता खोजनेवाली बताया है।

देखिए—ऋतु० II. १० 'सुतीक्ष्णमुच्चैर्ध्वनतां पयोमुचां घनान्धकारावृतशर्वरीष्वपि। तडित्प्रभादर्शितमार्गभूमयः प्रयान्ति रागादभिसारिकाः स्त्रियः ॥'

सूचिभेद्यैः = इतना प्रगाढ (अन्धकार) जो कि सुई से छेदा जा सके (pitch-dark, Ink-dark)। पंजाबी में इसके लिए 'अन्धेरा घुप' मुहावरा है। इस विषय में सारो० का कथन है—'अतिनिबिडत्वात्तमसां कविसमये सूचिभेद्यत्वमिष्यते। औपचारिकोऽयं धर्मः।'

कनकनिकषस्निग्धया = इसमें मल्लि० ने 'स्निग्ध' शब्द को विशेषण न मानकर विशेष्य माना है और इसका अर्थ 'तेज' लेकर ब० व्री० समास माना है। इसकी पुष्टि में शब्दार्णव की इस पंक्ति का प्रमाण दिया है—'स्निग्धं तु मसृणे सान्द्रे रम्ये क्लीबे च तेजसि', परन्तु 'स्निग्ध' का साधारण अर्थ 'रम्य' (चमकने वाला) लिया जाना ही ठीक है। सारो० ने यह व्याख्या की है—कषोपलस्फुरत्कांचनरेखासवर्णया। देखिए—विक्र० IV. १ 'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी'। और देखिए—हितोपदेश 'तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्'। विल्सन के अनुसार इसका पाठान्तर 'कनकनिकषच्छायया' है। परन्तु अर्थ में कोई विशेष भेद नहीं प्रतीत होता। निकष = निकष्यते इति, नि + √कष् + अच् या घञ् कर्मणि।

दर्शयोर्वीम् = देखिए ऋतु सं० II. ४०।

चौथे पाद में 'मा च भूः' के स्थान में मल्लि० आदि ने 'मा स्म भूः' पाठ दिया है किन्तु 'च' वाला पाठ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इस श्लोक में 'दर्शय' 'मा भूः' दो क्रिया शब्दों के संयोजक 'च' की आवश्यकता है।

यहां काव्यलिङ्ग अलंकार है, जिसका लक्षण इस प्रकार है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' अर्थात् जहां किसी बात का कारण बताया जाय वहां 'काव्यलिङ्ग' होता है। प्रस्तुत श्लोक में 'मत गरजना' इसका कारण बताया है कि स्त्रियां डरपोक होती हैं ॥ ३९ ॥

तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४०॥

1961

r.c. 1962(b)

अन्वयः—चिर-विलसनात् खिन्न-विद्युत्कलत्रः भवान् सुप्तपारावतायां कस्याञ्चित् भवन-वलभौ तां रात्रिं नीत्वा सूर्ये दृष्टे (सति) भवान् पुनरपि अध्वशेषम् वाहयेत्। सुहृदाम् अभ्युपेतार्थ-कृत्याः न खलु मन्दायन्ते ॥४०॥

पदार्थः—चिरविलसनात् =देर तक चमकते रहने से। खिन्नविद्युत्कलत्रः = जिसकी बिजली रूपी स्त्री थक गई है। सुप्तपारावतायाम्= जिस पर कबूतर सोए हुए हों ऐसे। कस्याञ्चित् =किसी। भवनवलभौ =घर की छत पर। तां रात्रिं= उस रात को। नीत्वा=बिता कर। सूर्ये दृष्टे (सति) =सूर्य के निकलने पर। अध्वशेषं=बाकी के मार्ग को। वाहयेत् =पूरा करना। सुहृदाम् अभ्युपेतार्थ-कृत्याः =जिन्होंने मित्रों के प्रयोजन की बात स्वीकार कर रखी है। न मन्दायन्ते खलु=कभी शिथिल नहीं होते ॥ ४० ॥

भावानुवादः—देर तक चमकते रहने के कारण थकी हुई बिजली-रूपी स्त्रीवाले तुम उस रात्रि को किसी घर की छत पर, जहां कबूतर सोते हों, बिता कर सूर्य के दिखाई देने पर शेष मार्ग को पार करना। मित्रों के मतलब की बात को स्वीकार कर रखनेवाले कभी ढीले नहीं पड़ते ॥ ४० ॥

व्याकरणम्—चिरविलसनात् =चिरं विलसनं तस्मात्। खिन्नविद्युत्कलत्रः = खिन्नं विद्युदेव कलत्रं यस्य सः (ब० व्री०) । सुप्तपारावतायाम्=सुप्ताः √स्वप्, (अ० प०) +क्त, कर्त्तरि। पारावता यस्यां सा तस्याम्। (बहुव्री०) पारावत—पारे आपतति इति पारावतः। कस्याञ्चित्=किम् की स्त्रीलि० स० एक० +चित्। भवनवलभौ =भवनस्य वलभौ =आच्छादने। अध्वशेषम्= अध्वनः शेषम्। वाहयेत्=√वह् (भ्वा. प.) +णिच् विधिलिङ् प्र० पु० एक। इसका कर्त्ता 'भवान्' है। सुहृदाम् =सुष्ठु हृदयं यस्यासौ सुहृत् तेषाम्। सु और दुर् के बाद 'हृदय' 'हृद्' में बदल जाता है। देखिए—'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' अष्टा० V.४. १५०। अभ्युपेतार्थकृत्याः=अभ्युपेता =अङ्गीकृता अर्थस्य =प्रयोजनस्य कृत्या =क्रिया यैस्ते; 'कृत्या कियादेवतयोः कार्ये स्त्री कुपिते त्रिषु' इति यादवः। अभ्युपेत=अभि +उप +√इ, (अ० प०) +क्त। खलु–अवधारणे (Certainty) अव्यय। मन्दायन्ते =मन्द से क्यष् प्रत्यय लगकर नाम धातु (Denominative) बना 'वा क्यषः' से आत्मनेपद ॥४०॥

विशेषः—भवनवलभौ =सरस्वती० कहता है–'वलभौ उपरितनभूमौ'। देखिए—'सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि' माल० I. १२; 'धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः' विक्र० III. २.

पुनरपि जो श्लोक ३६ में 'अत्येति' के स्थान पर 'अभ्येति' पाठ के पक्ष में हैं वे इस शब्द को 'दृष्टे सूर्ये' के साथ लगाते ह; परन्तु मल्लि इसको 'वाहयेत्' के साथ रखते हैं। यह अच्छा अर्थ मालूम होता है । इसके लिए मेवदूत श्लोक ३६ के 'विशेष' स्तम्भ की टिप्पणी देखिए ।

सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः=यह समास 'अभ्युपेतसुहृदर्थकृत्याः' इस प्रकार होना चाहिए था। मल्लि० ने पतञ्जलि के महाभाष्य के आधार पर 'सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः' कह कर उपर्युक्त समास का समर्थन किया है । इसे असमर्थ समास कहते हैं । देखिए—मुद्रा० II. १८ किंत्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते । निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्'।

दूसरे पाद में 'रूपक' अलङ्कार है। अन्तिम पाद में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है ॥ ४० ॥

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभि रतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमल[1]वदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४१॥

अन्वयः—तस्मिन् काले प्रणयिभिः खण्डितानां योषितां नयन-सलिलं शान्तिम् नेयम्, (अतः) भानोः वर्त्म (त्वं) आशु त्यज । सः अपि नलिन्या कमलवदनात् प्रालेयास्रम् हर्त्तुम् प्रत्यावृत्तः (सन्) त्वयि कर-रुधि (सति) अनल्पाभ्यसूयः स्यात् ॥४१॥

पदार्थः—तस्मिन् काले=उस समय (सूर्योदय के समय)। प्रणयिभिः= प्रेमियों के द्वारा । खण्डितानाम्=विश्वासघात किए जाने के कारण ईर्ष्या से जली-भुनी । योषिताम्=नायिकाओं के (स्त्रियों के) । नयन-सलिलम्= आँसुओं को । शान्तिं नेयम्=शान्त करना है । भानोः वर्त्म आशु त्यज= सूर्य के मार्ग को शीघ्र छोड़ देना अर्थात् उसको न ढांपना । सोऽपि=वह (सूर्य) भी। नलिन्याः कमलवदनात्=पद्मिनी के कमल-रूपी मुख से। प्रालेयास्रं हर्तुम्=ओस-रूपी आँसुओं को दूर करने (पोंछने) के लिए। प्रत्यावृत्तः=वापिस आया हुआ। त्वयि कर-रुधि (सति)=(सूर्य के) किरण-रूपी हाथों को रोक देनेवाले तेरे प्रति । अनल्पाभ्यसूयः=बहुत अधिक द्वेषवाला। स्यात्=हो जाय ॥ ४१ ॥

१—नयनात् सु० वि० ।

भाषानुवादः—उस (सूर्योदय के) समय प्रेमियों ने अपनी खंडिता नायिकाओं के आँसुओं को शान्त करना है, (इसलिए) तू सूर्य का मार्ग छोड़ देना। वह (सूर्य) भी नलिनी के कमल-रूपी मुख से ओस-रूपी आँसुओं को दूर करने (पोंछने) के लिए लौट आया है। (सूर्य के) किरण-रूपी हाथों को रोक देने वाले तेरे प्रति (सम्भवतः) वह अत्यधिक द्वेष रखने लग जाय ॥ ४१ ॥

व्याकरणम्—प्रणयिभिः =प्रणय+इन्, प्रणयिन् का तृ० बहु०। खण्डितानाम्=√खण्ड् (चु० प०)+त(क्त) । योषिताम्=योषित् शब्द का ष० बहु० । नयन-सलिलम्=नयनयोः सलिलम् (ष० तत्पु०)। नेयम्=√नी, (भ्वा० उभ०)+य (कृत्यप्रत्यय) √नी द्विकर्मक है, (१) नयन-सलिलम् (२) शान्तिम्। वर्त्म=वर्त्मन् नपुं०। आशु=अव्यय। त्यज= √त्यज् (भ्वा० प०) (छोड़ना), लोट् म० पु० एक० । नलिन्याः=नलिनी का ष० एक०, नलिनी=नलानि अम्बुजानि सन्ति अस्या इति नलिन्+ङीप् । कमल-वदनात्=कमलम् एव वदनं, तस्मात् (कर्मधा०) । प्रालेयास्रम्=प्रालेयं (प्र+√ली +अच् भावे, प्रलये भवमिति+प्रलय+अण्), हिममेवास्रम् =अश्रु। हर्तुम्= √हृ, (भ्वा. उभ.) (ले जाना) +तुमुन् । प्रत्यावृत्तः=प्रति+आ+√वृत्, (भ्वा० आ०)+क्त, प्र० एक०। कररुधि=करं रुणद्धि इति (कर+ √रुध्+क्विप्),स० एक०। अनल्पाभ्यसूयः=न अल्पा० अनल्पा (नञ् तत्पु०) अनल्पा अभ्यसूया यस्य सः (बहुव्री०) । स्यात्=√अस्, (अ० प०)(होना) वि० लिङ् प्र० पु० एक० ॥४१॥

विशेषः—खण्डितानाम्=खण्डिता नायिका की परिभाषा दशरूपक में इस प्रकार दी गई है—'ज्ञातेऽन्यासंग-विकृते खण्डितेर्ष्या-कषायिता' । अर्थात् जो स्त्री अपने पति को ऐसा जान कर कि उसने अन्य स्त्री के साथ सहवास किया है, ईर्ष्या और क्रोध से जली-भुनी निराश हो बैठी हो–'खण्डिता' कहाती है। ऐसी स्त्री को पति चाटुवचनों से प्रसन्न करता है । देखिए–पूर्वमेघ श्लोक ३१ में 'प्रार्थनाचाटुकारः' विषयक पदार्थ-भाग; और देखिए रघु० V ६७ 'निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा पर्युत्सुकत्वमबलानि शिखण्डितेव'

नलिन्याः=नलिनी का अर्थ पद्मिनी या कमलिनी=कमल लता है। व्याकरण से इस शब्द की व्युत्पत्ति 'नलानि सन्ति यस्याः' है; नल और नलिन् दोनों शब्दों का अर्थ कमल है, देखिए शब्दार्णवः—"तृणेऽम्बुजे नले ना तु राज्ञि

नाले तु न स्त्रियाम्" देखिए--'सुरगज इव विभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नाम्' कुमा० III. ७६; और देखिए—'नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः' कुमा० IV. ६; 'न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति' मृच्छ० IV. १७।

भर्ता सूरज के दूसरे लोक में चले जाने पर वहां दूसरी नलिनी से सहवास होने के कारण इस लोक की नलिनी खण्डिता हो गई।

अनल्पाभ्यसूय'=जब कोई व्यक्ति कुछ करना चाहता है ,और दूसरा उसको ऐसा करने से रोकता है, तो उनका परस्पर विद्वेष हो जाना स्वाभाविक ही है, इसलिए बादल को कहा गया है कि वह नलिनी के मुख की ओर बढ़ाए हुए सूर्य के 'कर' (किरणों) को न रोके। साथ ही सूर्य से विद्वेष करना शास्त्रों में निषिद्ध है, क्योंकि सूर्य-विद्वेष से पाप और साथ ही बड़ी हानि भी होती है। 'अभ्यसूया' का अर्थ ईर्ष्या अथवा क्रोध है। देखिए रघु० VI. ७४ 'शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः'।

कमलवदनात्=सुमति विजय ने 'कमलवदनात्' के स्थान में–कमलनयनात्' पाठ दिया है। इस पाठ के देने से संभवतः उसका यह विचार हो कि आँसू "नयन' में ही रहते हैं; किन्तु हमें 'कमल-वदनात्' वाला पाठ ही अच्छा लगता है, क्योंकि नलिनी-लता तो नायिका बन गई, फिर 'वदन' भी तो उसका चाहिए; आँखें बिना वदन के हो भी नहीं सकती, वदन पर आँसू पड़ता ही है और उसे ही पोंछते ह न कि आँख में का आँसू।

कररुधि त्वयि=किरण-रूपी हाथों को रोकनेवाले तुझ से। यहां पर 'कर' शब्द में श्लेष है 'कर' को किरण और हाथ भी कहते हैं।

इस श्लोक में 'कमल' में 'वदनत्व' का 'प्रालेय' में 'अस्रत्व' का और 'कर' (किरणों) में 'करत्व' (हस्तत्व) का आरोप होने से 'साङ्ग-रूपक' अलंकार है, परन्तु वह 'नलनी' में 'नायिकात्व' और सूर्य में 'नायकत्व' का आरोप आर्थ होने के कारण एक-देश-विवर्ती ही है, समस्त-वस्तु-विषयक नहीं ॥४१॥

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्माऽपि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः[1] कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या–
न्मोघीकर्त्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥४२॥

१—तस्याः।

अन्वयः––गम्भीरायाः सरितः प्रसन्ने चेतसि इव (प्रसन्ने) पयसि प्रकृति-सुभगः ते छायात्मा अपि प्रवेशम् लप्स्यते; तस्मात् अस्याः (गम्भीरायाः) कुमुद-विशदानि चटुल-शफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि धैर्यात् मोघीकर्त्तुम् न अर्हसि ॥४२॥

पदार्थः––गम्भीरायाः सरितः = गम्भीरा नाम की नदी के। प्रसन्ने चेतसीव (प्रसन्ने) पयसि =प्रसन्न (प्रेम के कारण आनन्द भरे) मन के समान (प्रसन्न) स्वच्छ जल में। प्रकृतिसुभगः =स्वभाव से सुन्दर। ते छायात्मापि=तेरा प्रतिबिम्बरूप आत्मा भी। प्रवेशम् लप्स्यते=प्रवेश प्राप्त करेगी। कुमुद-विशदानि= कुमुद के समान सफेद। चटुल-शफरोद्वर्तन-प्रेक्षितानि =मछलियों के शीघ्रता-पूर्ण (फुर्तीले) उच्छलन-रूपी चितवनों को। धैर्यात्=धीरता से। मोघीकर्त्तुं नार्हसि=निष्फल करने योग्य नहीं, अर्थात् उन्हें बेकार नहीं जाने देना चाहिए ॥४२॥

भाषानुवादः––गम्भीरा नदी के प्रसन्न (निर्मल) जल के भीतर तेरी स्वभावतः सुन्दर प्रतिबिम्ब-रूपी आत्मा यों प्रवेश करेगी जैसे कि प्रसन्न (प्रेम के कारण आनन्द भरे) (नायिका के) हृदय में (नायक प्रवेश करता है)। अतः इस (गम्भीरा) की मछलियों की कुमुदों जैसी सफेद फुर्तीली उच्छलन–– (लुड़कन) रूपी चितवनों को धीरता के कारण निष्फल मत जाने देना ॥४२॥

व्याकरणम्––सरितः =सरित् शब्द की ष० एक०। प्रसन्ने=प्र+√सद् (भ्वा० प०)+न (क्त), स० एक०। पयसि=पयस् शब्द की स० एक०। प्रकृति–सुभगः=प्रकृत्या स्वभावेन सुभगः सुन्दरः (तृ० तत्पु०)। ते=युष्मत् की ष० एक० ; यह वैकल्पिक रूप है––दूसरा रूप 'तव' है। छायात्मा=छाया चासौ आत्मा च (कर्मधा०)। प्रवेशम्=प्र+√विश् (तु० प०)+अ (घञ्)। लप्स्यसे=लभ्, (भ्वा० आ०) (प्राप्त करना) लृट्, म० पु० एक०। कुमुद-विशदानि=कुमुदानि इव विशदानि धवलानि ; उपमानानि सामान्यवचनैः, से उपमान कर्मधा० हुआ। मल्लि०इसका 'कुमुद्वत्विशदानि' विग्रह करता है, परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वति प्रत्यय क्रिया के होने पर होता है। देखिए पाणिनि का सूत्र––"तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः" चटुलशफरोद्वर्तन०= चटुलानि शीघ्राणि (त्रिषु स्याच्चटुलं शीघ्रम् इति विश्वः) शफराणां मीनाना-मुद्वर्तनान्युल्लुण्ठनान्येव प्रेक्षितान्यवलोकतानि कर्मधा०। मोघीकर्त्तुं=मोघ+च्वि √कृ(त० उभ०)+तुमुन्। अर्हसि√अर्ह्, (भ्वा० प०), लट् म० पु० एक० ॥४२॥

विशेषः--गम्भीरायाः=गम्भीरा नाम की एक छोटी नदी मालव में है। जिनसेन ने आदि पुराण के अध्याय २४ में इसका वर्णन किया है। गम्भीरा उत्कृष्ट गुणोंवाली एक स्त्री को भी कहते हैं, जो अपने प्रेम को प्रकट नहीं करती।

प्रसन्ने पयसि=साफ़, निर्मल, पारदर्शक। देखिए--उत्तर० I, 'प्रसन्न-पुण्यसलिला भगवती भागीरथी'।

छायात्मापि=सारोद्धा०की इस पर यह व्याख्या है—'छाया प्रतिबिम्बं तद्रूप आत्मा'। सरस्वती० कहता है—'छायात्मापि प्रतिबिम्बमपि साक्षात्त्वदीयस्ताव-त्तिष्ठतु तव प्रतिबिम्बमपि लप्स्यत इति शब्दार्थः'। इसका अभिप्राय यह है कि तुम तो क्या बल्कि तुम्हारा प्रतिबिम्ब भी जल में प्रवेश करेगा।

धैर्यात्=इसका अर्थ मल्लि०ने धार्ष्ट्यात् (ढिठाई से) किया है, परन्तु यह विचित्र सा प्रतीत होता है। बल्लभ तथा अन्य टीकाकार इसका गाम्भीर्यात् या धीरत्वात् (आत्मसंयम अथवा मन की दृढ़ता ते कारण) अर्थ कहते हैं। ये अर्थ 'धूर्तता के कारण' की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक लगते हैं।

यहां जल का चित्त के साथ और प्रेक्षित (चितवन) का कुमुद के साथ सादृश्य बतलाने से उपमा है, परन्तु यह एकदेश–विवर्तिनी है। क्योंकि गम्भीरा का नायिका के साथ सादृश्य कवि ने 'आर्थ' रखा है। शफरोद्वर्तनों में प्रेक्षितत्व का आरोप होने से 'रूपक' भी है॥४२॥

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
[1]हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो[2] विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥४३॥

अन्वयः—(हे) सखे! प्राप्त-वानीर-शाखम् किञ्चित् करधृतम् इव मुक्त-रोधो-नितम्बम् नीलम् तस्याः सलिल-वसनम् हृत्वा लम्बमानस्य ते प्रस्थानम् कथम् अपि भावि। ज्ञातास्वादः कः विवृत-जघनाम् विहातुम् समर्थः॥४३॥

पदार्थः—सखे+हे मित्र! प्राप्तवानीरशाखम्=बेंत की शाखायें जिस तक पहुँची हुई हैं। किञ्चित्करधृतमिव=जो कि कुछ-कुछ मानो हाथ से पकड़ा

१–नीत्वा। २–पुलिन–जघनाम्। विल्स०, विपुलजघनाम् म०सिं०, सु० वि० वल्लभ आदि।

हुआ हो। मुक्त-रोधो-नितम्बम्=जिसने तट-रूपी नितम्बों को छोड़ दिया है। नीलं सलिल-वसनं=नील रंग के जल-रूपी वस्त्र को। हृत्वा=हटाकर। लम्बमानस्य=ऊपर लम्बा पड़े हुए, पसरे हुए। ते प्रस्थानम्=तेरा जाना। कथमपि भावि=बड़ा कठिन होगा। ज्ञातास्वादः=जिसने स्वाद अनुभव कर रखा हो। विवृत-जघनाम्=उघड़ी जंघाओं वाली (स्त्री) को। विहातुं=छोड़ने को। कः समर्थ=कौन समर्थ है? ॥४३॥

भावानुवादः—हे मित्र! बेंत की टहनियों से छुए जाते हुए इस (गम्भीरा) के नीले रंगवाले जल-रूपी वस्त्र को हटाकर, जो कि तट-रूपी नितम्बों से सरका हुआ मानो (उसने अपने) हाथों से कुछ पकड़ा हुआ हो (उसके ऊपर) पसरे हुए तेरा चला जाना बड़ा कठिन होगा। जिसने स्वाद ले रखा हो, (भला वह) कौन (व्यक्ति) उघड़ी जाँघवाली को छोड़ सकता है? ॥४३॥

व्याकरणम्—सखे=सखि का सम्बोधन एक वचन। प्राप्तवानीरशाखम्=प्राप्ता वानीरशाखा यत् तत (ब० व्री०)। करधृतम्=करेण धृतम् (तृ० तत्पु०) मुक्तरोधोनितम्बम्=मुक्तस्त्यक्तो रोधस्तटमेव नितम्बः कटिर्येन तत्तयोक्तम्, (ब० व्री०), सलिल-वसनम्=सलिलमेव वसनम् (कर्मधा०)। हृत्वा=√हृ (भ्वा० उभ०) (ले जाना)+त्वा (क्त्वा)। लम्बमानस्य=√लम्ब्, (भ्वा० आ०)+मान (शानच्)। ते=युष्मत् का ष० ए० 'तव' और 'ते' दोनों होते हैं। दूसरा रूप वाक्य के प्रारम्भ में नहीं आता। कथमपि=क्रि० वि०। भावि=अवश्यं भविष्यति इति, √भू+णिनि कर्त्तरि, भविष्यदर्थे नपुं० एक०। ज्ञातास्वादः=ज्ञातोऽनुभूतः आस्वादो रसः येन (ब० व्री०)। विवृत-जघनाम्=विवृतं प्रकटीकृतं जघनं कटिर्यस्याः सा (ब० व्री०)। विहातुम्=वि+√हा (जुहो० प०)+तुमन्॥४३॥

विशेषः—प्राप्तवानीरशाखम्=वानीर की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—वां शुष्कम् आ समन्तान्नीरमस्य। देखिए—उत्तर० II. २० 'इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुद्'।

विवृत-जघनाम्=विल्सन (Wilson) ने इसकी जगह 'पुलिन-जघनाम्' यह पाठ दिया है परन्तु यह ठीक नहीं बैठता, क्योंकि 'पुलिन' तीर (तट) को कहते हैं और तीर को पहले नितम्ब कह ही दिया है, उसकी पुनरावृत्ति ही है; दूसरे मेघ 'सलिल-रूपी वसन' का ही हरण करता है 'पुलिन' का

नहीं; तीसरे काव्य में सलिल का वसन से साम्य अधिक प्रसिद्ध है। हाँ, वल्लभ आदि का 'विपुल-जघनाम्' वाला पाठ विल्सन की अपेक्षा कुछ ठीक है।

वानीरशाखम्, रोधोनितम्बम् और सलिल-वसनम् में रूपक है, परन्तु वह एक-देश-विवर्ति ही है, क्योंकि गम्भीरा में नायिकात्व का आरोप (Superimposition) आर्थ है। अन्तिम पाद में सामान्य द्वारा उपरोक्त विशेष बात का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है ॥४३॥

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः[1]
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥४४॥

अन्वयः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित-वसुधा-गन्ध-संपर्क-रम्यः, स्रोतोरन्ध्र-ध्वनित-सुभगम् दन्तिभिः पीयमानः काननोदुम्बराणाम् परिणमयिता शीतः वायुः देवपूर्वम् गिरिम् उपजिगमिषोः ते नीचैः वास्यति ॥४४॥

पदार्थः—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसित-वसुधा० =तेरे बरसने से उभरी हुई पृथ्वी के गन्ध के संसर्ग से सुन्दर। स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् (क्रि० विशे०) =(हाथियों के) नासाग्रछिद्रों में शब्द करने के कारण जिसका सेवन अच्छा प्रतीत हो। दन्तिभिः पीयमानः=हाथियों के द्वारा सेवन किया जाता हुआ। शीतो वायुः=शीतल पवन। काननोदुम्बराणाम् =जंगली अजीरों के। परिणमयिता =पकानेवाला। देवपूर्वं गिरिम् =देव (शब्द) है पहले जिसके ऐसे पर्वत को (अर्थात् देव-गिरि पर्वत को)। उपजिगमिषोः ते =जाने की इच्छा रखने वाले तेरे। नीचैः वास्यति = नीचे बहेगा (चलेगा) ॥४४॥

भाषानुवादः—तेरे बरसने से उभरी हुई पृथ्वी के गन्ध के संसर्ग से रमणीय, हाथियों से नासिका के (अग्रभागवाले) छिद्रों में पैदा होते हुए सुन्दर शब्द के साथ सेवित (पीयमानः), जंगली गूलरों को पकानेवाला शीतल वायु देवगिरि को जाना चाहते हुए तेरे नीचे से बहेगा (चलेगा) ॥४४॥

व्याकरणम्—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा० =तव निष्यन्दः त्वन्निष्यन्दः (नि+√स्यन्द्+घञ् भावे) तेन उच्छ्वसिताया वसुधाया गन्धस्य संपर्केण रम्यः। उच्छ्वसित--उत्+√श्वस्+क्त कर्मणि। श्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगम् =श्रोतसः

१—पुण्यः विल्स०।

घ्राणेन्द्रियस्य रन्ध्रेषु यद् ध्वनितं शब्दस्तेन सुभगं यथा स्यात्तथा (क्रि० विशे०)। दन्तिभिः=दन्तिन् (दन्त+इन्) का तृ० बहु०। पीयमानः=√पा, (भ्वा प०) (पीना)+मान (शानच्), कर्मणि। काननोदुम्बराणाम्=काननेषु उदुम्बराणाम् जन्तुफलानाम् (ष० तत्पु०)। परिणमयिता=(परि+√नम्, भ्वा० प०+णिच् +तृच् कर्तरि)। परि+√नम् से णिच् बनाने में वृद्धि नहीं होती। देवपूर्वम =देवः देवशब्दः पूर्वं यस्य सः (ब० व्री) तम्। गिरिम्=गिरि का द्वि० एक०। उपजिगमिषोः=उपगन्तुमिच्छोः इति, उप+√गम्, (भ्वा० प०)+सनि+उ ष० एक०। ते=युष्मद् का ष० एक०; सम्बन्धविवक्षया षष्ठी। नीचैः= क्रियाविशे०। वास्यति=√वा, [अदा० प०] (बहना, चलना) लृट्, म० पु० एक० ॥४४॥

विशेषः—स्रोतोरन्ध्रध्वनित०=वल्लभ और सारोद्धा० कहते हैं कि 'स्रोतस्' स्वयं 'करिकर' का पर्यायवाची शब्द है और शिशुपाल० के XVIII.४९ श्लोक का अपने कथन के समर्थन में प्रमाण देते हैं। मल्लि० ने 'स्रोत' का अर्थ 'नासाग्र किया है, परन्तु अमरकोष 'स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये' के अनुसार 'स्रोत' का अर्थ इन्द्रिय है। प्रकृत में घ्राणेन्द्रिय ही विवक्षित है।

नीचैर्वास्यति=मल्लि० के अनुसार इसका अर्थ 'वायु धीरे-धीरे तुम्हारी सेवा करेगा' परन्तु सरस्वती० इसका शाब्दिक अर्थ लेते हैं--यथा, 'ते तव नीचैरधस्ताद्वास्यति'।

देवपूर्वं गिरिम्=देवगिरि से उस स्थान का निर्देश है जिसे देवगढ़ कहते हैं और जो चम्बल नदी के दक्षिण की ओर मालव के मध्य में स्थित है। इस पर्वत पर कार्त्तिकेय के मन्दिर का स्थान है। देवगिरि पर्वत को दक्षिण में स्थित देवगिरि या दौलताबाद समझना ठीक न होगा। 'देवपूर्वं गिरिम्' में मल्लि० ने यहां एकावली का प्रमाण देकर अवाच्य वचन दोष माना है, अर्थात् व्यक्ति वाचक शब्दों के अवयवीभूत शब्दों में परिवर्तन आ जाने से वह व्यक्ति-वाचक नहीं रहता है, परन्तु इस प्रकार की रचना के लिए देखिए—'दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारि-गुरुं विदुर्बुधाः' रघु० VIII. २९, और देखिए--'हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते' शिशु० I. ४२। 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' किरात० XVIII. ४४, शारदारञ्जन राय के अनुसार मल्लि० का यह विवाद ही अनावश्यक है, क्योंकि देवगिरि शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है, 'गिरि' सामान्य शब्द है उस के आगे 'देव'

शब्द आ जाता है। यदि कवि देवगिरि को व्यक्तिवाचक शब्द मान कर और उसका परिवर्तन करके देवपूर्वः 'गिरिः पर्वतः' यों पढ़ता तो अवश्य दोष था ।।४४।।

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां [1]चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ।।४५।।

अन्वयः—तत्र (देवगिरौ) नियत-वसतिम् स्कन्दम् पुष्पमेघीकृतात्मा (सन्) भवान् व्योम-गङ्गा-जलार्द्रैः पुष्पासारैः स्नपयतु। तत् हि वासवीनाम् चमूनाम् रक्षा-हेतोः नव-शशि-भृता हुतवह-मुखे संभृतम् अत्यादित्यम् तेजः (अस्ति) ।।४५।।

पदार्थः – तत्र = देवगिरि पर। नियतवसतिम् = स्थायी रूप से रहनेवाले। स्कन्दम् = स्वामी कार्त्तिकेय को। पुष्पमेघीकृतात्मा = अपने आप को फूलों का मेघ बनाते हुए; पुष्प-मेघ-रूप बनकर। व्योमगङ्गा-जलार्द्रैः = स्वर्ग की गङ्गा के जल से गीले हुए। पुष्पासारैः = फूलों की बौछार से। स्नपयतु = नहलाओ, अभिषेक करो। तत् = वह स्कन्द। वासवीनां चमूनाम् = इन्द्रकी सेनाओं को। रक्षा-हेतोः = रक्षा के लिए। नवशशिभृता = भगवान् चन्द्रशेखर से। हुतवहमुखे = अग्नि के मुख में। संभृतम् = एकत्रित किया गया हुआ। अत्यादित्यं तेजः = सूर्य से बढ़-चढ़ कर तेज (है) ।।४५।।

भाषानुवादः—वहां (देवगिरि पर) स्थायी-रूप से रहनेवाले स्वामी कार्त्तिकेय को तुम पुष्प-मेघ रूप बनकर आकाश गङ्गा के जल से गीले हुए फूलों की बौछार द्वारा नहलाना। वह (स्कन्द) इन्द्र की सेनाओं को रक्षा के लिए भगवान् शशिशेखर (शिव) के द्वारा अग्नि के मुख में एकत्रित किया हुआ सूर्य को भी अतिक्रमण करने वाला तेज है ।।४५।।

व्याकरणम्—नियत-वसतिम् = नियता (नि + √यम् + त) वसतिर्यस्य तम् (ब० व्री०)। पुष्पमेघीकृतात्मा = पुष्पाणां मेघः पुष्पमेघः, अपुष्पमेघः पुष्पमेघः सम्पद्यमानः कृत इति पुष्पमेघीकृतः, अभूततद्भावे कर्तरि च्विः, पुष्पमेघीकृत आत्मा येन सः (ब० व्री०)। व्योमगङ्गाजलार्द्रैः = व्योम्नः गङ्गा व्योमगङ्गा तस्या यज्जलं तेनार्द्रैः। पुष्पासारैः = पुष्पाणामासारैः सम्पातैः।

१–वसूनाम् सारो०।

स्नपयतु=√स्ना, (अदा० प०, नहाना, अभिषेक करना)+णिच्, लोट्, प्र० पु० एक०। वासवीनाम्=वासवस्येयं वासवी तासां चमूनाम्। रक्षाहेतोः=रक्षायाः हेतोः। नवशशिभृता=नवं शशिनं बिभर्तीति नवशशिभृत् तेन। हुतवहमुखे= हुतं√हु, [जु० प०]+त (क्त), वहतीति वहः√वह् (भ्वा० उ०)+अ अथवा हुतस्य स्वाहा कृतस्य अन्नादिकस्य वहः हुतवहः=वह्निः तस्य मुखे। संभृतम्=सम्+√भृञ् (भ्वा० उभ०)+त (क्त)। अत्यादित्यम्= आदित्यमतिक्रान्तम् ॥४५॥

विशेषः—वासवीनाम्=वल्लभ कहता है कि यह प्रयोग 'वासवीयानाम्' का अशुद्ध रूप है, परन्तु मल्लि० 'तस्येदम्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करके यह रूप व्याकरण-सम्मत सिद्ध करता है—'वासवस्येमा वासव्यः तस्येदमित्यण्' पुनः 'टिड्ढाणञ्......इति ङीप् (ई)।

स्कन्द=महाभारत में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है— 'स्कन्नत्वात्स्कन्दतां प्राप्तो गुहावासाद् गुहोऽभवत्'।

हुतवहमुखे=इससे पवित्रता का भाव प्रकट होता है। शम्भु-रहस्य में 'गौ का पिछला आधा भाग, ब्राह्मण के पैर, योगियों का मन, कवियों के शब्द, स्त्रियों, घोड़ों तथा अग्नि का मुख सर्वथा पवित्र समझे गए हैं।' कार्त्तिकेय का कई नामों में से एक नाम 'अग्निभूः' (अग्नि से उत्पन्न हुआ) है। इसी प्रकार पूर्वमेघ श्लोक ४६ में 'पावकेः' यह पद कार्त्तिकेय के लिए आया है। कार्त्तिकेय के अन्य नाम 'शरजन्मा, शरवणभवः (कानों के जंगल में पैदा हुआ) इत्यादि हैं। देखिए– रघु० III. २३ 'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा'; पूर्वमेघ श्लोक ४७ 'आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लंघिताध्वा'। कार्त्तिकेय की उत्पत्ति शिवजी के वीर्य से हुई है। यह वीर्य जब अग्नि में डाला गया, तो अग्नि इसे सहन करने में असमर्थ रही। उसने इसे गङ्गा में डाल दिया था। यह भी कहा जाता है कि वह वीर्य सरकण्डों (शर या कानों) की झाड़ी में डाल दिया गया था, जहां इसे छः कृत्तिकाओं ने निगल लिया था और प्रत्येक ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया था। पृथक्-पृथक् पैदा हुए ये छः बच्चे पीछे मिलाकर एक रूप में परिवर्तित किए गये थे, जिसके छः सिर तथा बारह हाथ थे। इस बालक को इन्द्र की सेना का नायक नियुक्त किया गया। इसी ने तारकासुर का वध किया था। इसको शरकण्डों के वन में पैदा होने से 'शरजन्मा' तथा 'शरवणभवः' कहते हैं। देखो पूर्वमेघ श्लोक ४७

'आराध्यैनं शरवणभवं देवम्......'। इसे कृत्तिकाओं से उत्पन्न होने के कारण 'कार्त्तिकेय' इन्द्र की सेना का सेनापति बनने से 'सेनानी' और अग्नि से जन्म होने के कारण 'अग्निभूः' या 'पावकिः' भी कहते हैं। शिव जी के इस पुत्र को मोर पर सवारी करनेवाला बताया गया हैं, देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४६ 'धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः'। इस सम्बन्ध में रघु० II. ७५ श्लोक, देखें–'सुरसरिदिव तेजो वह्नि-निष्ठ्यूतमैशम्'।

नवशशिभृता=नवीन चन्द्र को धारण करनेवाले शिव जी के द्वारा। कहा जाता है कि चाँद की कला शिव जी के सिर पर विराजती है। इसी कारण इनके शशिशेखर, इन्दुमौलि, अर्धेन्दुमौलि या चन्द्रशेखर इत्यादि नाम भी हैं। देखिए–मुद्रा० I. १ 'धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला'। इस सम्बन्ध में पूर्वमेघ का श्लोक ४६ भी देखें जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है और देखिए–पूर्व मेघ श्लोक ५७ का पहला पाद–'तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः'।

तद्धि तेजः=तत् शब्द स्कन्द का स्थानापन्न सर्वनाम होने से पुंल्लिङ्ग होना चाहिए था, क्योंकि वह उद्देश्य है और उद्देश्य 'वेदाः प्रमाणम्' की तरह अपना ही लिङ्ग रखता है। मल्लि० का 'विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः' यह समाधान ठीक नहीं जँचता।

इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥४५॥

ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा[1] कुवलयदल[2] प्रापि[3] कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा [4]पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥४६॥

अन्वयः—ज्योतिर्लेखा-वलयि गलितम् यस्य (मयूरस्य) बर्हम् भवानी पुत्रप्रेम्णा कुवलय-दल-प्रापि (यथा स्यात्तथा) कर्णे करोति; हर-शशिरुचा धौता-पाङ्गम् पावकेः तम् मयूरम् पश्चात् अद्रि-ग्रहण-गुरुभिः गर्जितैः (त्वम्) नर्तयेथाः।

पदार्थः—यस्य=जिस (मयूर) के। ज्योतिर्लेखा-वलयि=कान्तिवाली रेखाओं के चक्रवाले। गलितम्=गिरे हुए। बर्हम=पंख को। भवानी= पार्वती। पुत्र-प्रेम्णा=पुत्र-प्रेम से। कुवलय-दल-प्रापि=कमल की पंखुड़ी के

१–प्रीत्या। २–पद। ३–स्पर्धि स० ती०। ४–आप्यायये: विल्स०।

साथ। कर्णे करोति=कान में पहनती है, या कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति=कमल की पंखुड़ी पहनने योग्य कान में धारण करती है। हरशशि-रुचा=शिव जी के (सिर पर स्थित) चन्द्रमा की चमक से। धौतापाङ्गम्=अधिक श्वेत हो गए हैं अपाङ्ग (कनखियां) जिसकी ऐसे। पावकेः=कार्तिकेय के। तं मयूरम्=उस मयूर को। पश्चात्=(फूलों के अभिषेक के) पीछे। अद्रि-ग्रहण-गुरुभिः=पर्वत की प्रतिध्वनि से बढ़े हुए। गर्जितैः=गर्जनों से। नर्तयेथाः=याचना ॥४६॥

भाषानुवादः—तदनन्तर (तुम) स्वामी कार्त्तिकेय (पावकि) के उस मोर को, जिसके (स्वयं) गिरे हुए चमकती रेखाओं के चक्रवाले पंख को पार्वती पुत्र-प्रेम से कमल की पंखुड़ी के साथ कान में पहनती है और जिसके आँखों की कनखियाँ शिव जी के (शिर पर स्थित) चन्द्रमा की चमक से (और भी अधिक) श्वेत रहतीं हैं—देवगिरि (अद्रि) के गूंजने से बढ़े हुए गर्जनों द्वारा नचाना ॥४६॥

व्याकरणम्—ज्योतिर्लेखावलयि=ज्योतिषस्तेजसो लेखा राजयः तासां वलयं मण्डलमस्यास्तीति। गलितम्=√गल्, (भ्वा० प०) (गिरना)+त (क्त)। भवानी=भवस्य शिवस्य पत्नी, भव+ङीप् (इन्द्र-वरुण-भव इत्यादिना आनुगागमः)। पुत्र-प्रेम्णा=पुत्रस्य प्रेम्णा (ष० तत्पु०)। कुवलयदलप्रापि=कुवलयस्य दलं पत्रं तत्प्राप्नोति इति, तत्प्रापि=तद्योगि यथा स्यात् तथा (क्रि०विशे०)। प्रापि=प्र+√आप् (स्वा० उभ०)+इन् (णिनि)। यद्वा कुवलयस्य दलप्रापि दलभाजि दलार्हे कर्णे करोति-प्राप्नोति प्राप् (क्विप्) क्विबन्तात्सप्तमी (कर्णे का विशे०)। हरशशिरुचा=हरस्य शिरसि स्थितो यः चन्द्रस्तस्य रुचा (मध्यमपदलोपी स०)। धौतापाङ्गम्=धौतौ अतिधवलितौ अपाङ्गौ नेत्रान्तौ ('अपाङ्गौ नेत्रयोरन्तौ' इत्यमरः) यस्य तम् (ब० व्री०)। पावकेः=पावकस्याग्नेरपत्यं पावकिस्तस्य स्कन्दस्य। 'अत इञ्' इति इञ्। अद्रिग्रहणगुरुभिः=अद्रेः (कर्तुः) देवगिरेः ग्रहणेन गुहासंक्रमणेन गुरुभिः वृद्धि गतैः प्रतिध्वान-महद्भिरित्यर्थः। गर्जितैः=(गर्ज्, भ्वा० प०+त, भावे क्तः)। नर्तयेथाः=√नृत्, (दि० प०) (नाचना)+णिच्, विधिलिङ् (आत्मनेपद) म० पु० ए०। यहां 'नृत्' धातु का णिजन्त 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' से परस्मै० होना चाहिए था, क्योंकि नृत् (नाचना) चलनार्थ है अथवा 'अणौ अकर्मकात् चित्तवत्कर्तृकात्' इस

से परस्मैपद प्राप्त ह, क्योंकि नृत् 'अणि' में अकर्मक और 'चित्तवत् (चेतन) कर्तृक' है, परन्तु 'न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः' इस से परस्मैपद का निषेध होकर 'णिचश्च' से आत्मनेपद हुआ है।

विशेषः—वर्ह कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति = इसके मल्लि० के अनुसार दो अर्थ हो सकते हैं—(१) पंख को कमल की पंखुड़ियों के साथ रखती है। इस दशा में 'कुवलयदलप्रापि' करोति क्रिया का विशेषण है (२) पंख को अपने कान में (कर्णे) रखती है, अर्थात् कान में उस स्थान पर रखती है, जहां कमल की पंखुड़ियाँ डाली जानी चाहिए। इस अवस्था में 'कुवलयदलप्रापि' कर्णे का विशेषण है।

सरस्वती० 'प्रापि' के स्थान में 'स्पर्धि' पाठ देता है, जिसका अर्थ 'जो पंख कुवलय (कमल) की पंखुड़ी से होड़ करता है' इस प्रकार है। यह अर्थ मल्लि० के द्वारा बतलाए गए दोनों प्रकार के वैकल्पिक अर्थों की अपेक्षा अधिक अच्छा प्रतीत होता है और विच्छित्ति प्रकट करता है।

पावकेस्तं मयूरम् = 'पावकेः' का शब्दार्थ 'अग्नि से उत्पन्न हुआ' है। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४५ का 'विशेष' भाग। विलसन (Wilson) महोदय 'पावकेः' के स्थान में 'आप्याययेः' (०रुचाप्याययेः) पाठ देकर उस मयूर को जलबिन्दुओं से आप्यायित करना अर्थात् तृप्त करना, तदनन्तर उसे नचाना। इस अवस्था में प्रकृत श्लोक में दो क्रिया-पद होने से दो वाक्य बनेंगे। श्लोक में 'पश्चात्' शब्द की स्थिति से ही इस पाठान्तर को प्रोत्साहन मिला प्रतीत होता है, किन्तु इसमें मयूर का स्वामी कार्तिकेय के साथ सम्बन्ध जुड़ने से रह जाता है।

हरशशिरुचा = शिवजी के सिर पर स्थित चन्द्रमा की चमक से। देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४५ का 'विशेष' भाग तथा पूर्वमेघ श्लोक ५७ का पहला पाद 'तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः'। यहां हमें क्रमशः 'नवशशिभृत्' तथा 'अर्धेन्दुमौलि' शब्द जो शिव के पर्यायवाची हैं—मिलते हैं ॥४६॥

आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिस्त्यक्तमार्गः[1] ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् ॥४७॥

१—दत्तमार्गः विल्स० दत्तवर्त्मा । मुक्तमार्गः मल्लि० ।

अन्वयः—एनम् शरवणभवम् देवम् आराध्य वीणिभिः सिद्ध-द्वन्द्वैः जल-कण-भयात् त्यक्त-मार्गः (सन्) उल्लङ्घिताध्वा सुरभि-तनया लम्भजाम् भुवि स्रोतो-मूर्त्या परिणताम् रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम् मानयिष्यन् व्यालम्बेथाः ॥४७॥

पदार्थः—शरवणभवं देवम्=सरकण्डों के वन में पैदा हुए देव की अर्थात् स्कन्द की। आराध्य=उपासना करके। वीणिभिः=वीणाओं को लिए हुए। सिद्ध-द्वन्द्वैः=सिद्धों के युगलों (जोड़ों) द्वारा। जलकण-भयात्=जल की बूँदों के भय से। त्यक्तमार्गः=जिसका रास्ता (खुला) छोड़ दिया गया है। उल्लङ्घिताध्वा=जिसने मार्ग पार कर लिया है। सुरभितनयालम्भजाम्=गौओं के बलिदानों से उत्पन्न हुई। स्रोतो-मूर्त्या=नदी के रूप में। भुवि परिणताम्=पृथ्वी पर परिणत या परिवर्तित हुई। रन्तिदेवस्य कोर्तिम्=दशपुरपति रन्तिदेव की कीर्ति (चर्मण्वती नाम की नदी) को। मानयिष्यन्=सत्कार करने की इच्छा से। व्याल-म्बेथाः =नीचे उतरकर ठहरना ॥४७॥

भाषानुवादः—सरकण्डों के वन में पैदा हुए इस देव (स्वामी कार्तिकेय) की आराधना करके (तुम) वीणा (हाथ में) लिए हुए सिद्धदम्पतियों के जल–कणों के (गिरने के) डर से मार्ग छोड़ देने पर कुछ रास्ता पार करके गौओं के बलिदानों से उत्पन्न (एवं) पृथ्वी पर नदी के रूप में परिवर्तित हुई (राजा) रन्तिदेव की कीर्ति (चर्मण्वती) के प्रति सम्मान दिखाने की अभिलाषा से (देवगिरि से) नीचे उतर कर ठहर जाना ॥४७॥

व्याकरणम्—एनम्=इदम् (पुंल्लि०) का द्वि० एक०; यह दूसरा प्रयोग अन्वादेश में है। शरवणभवम्=शरा बाणतृणानि तेषां वनं शरवणम्, ('प्रनिरन्तः शरे'—इससे 'वन' के न को ण हुआ) तत्र भवः जन्म यस्य तम् (ब० व्री०)। आराध्य=आ+√राध्, (भ्वा० आ०, समर्थ होना)+य (ल्यप्)। वीणिभिः=वीणावद्भिः; वीणा एषां विद्यते इति वोणिनः तैः 'व्रीह्यादित्वादिनिः, इस से 'इनि' प्रत्यय हुआ। जल-कण-भयात्=जलस्य कणाः जलकणाः तेभ्यो भयात्। त्यक्तमार्गः=त्यक्तो मार्गो यस्य सः (ब० व्री)। उल्लङ्घिताध्वा=उल्लङ्घितोऽध्वा येन सः (ब० व्री०), उत्+√लंघ्, (भ्वा० प०, सीमा का अतिक्रमण करना)+त(क्त)। सुरभितनयालम्भजाम्=सुरभेः तनयानां गवामालम्भनेन संज्ञपनेन जायत इति तथोक्ताम् (कीर्तिम्)। स्रोतोमूर्त्या=स्रोतसः मूर्त्तिः स्रोतोमूर्त्तिः तया। भुवि=भू (पृथ्वी) स० एक०। परिणताम्=परि+√नम्,

(भ्वा०प०)+त(क्त), स्त्री० द्वि० एक०। मानयिष्यन्=√मान्, (चु०प०)+स्यत् (भविष्यत् अर्थ में शतृ), प्र० एक०। व्यालम्बेथाः=वि+आ√लम्ब्, (भ्वा० आ०, नीचे उतरना) विधिलिङ्, म० पु० एक० ॥४७॥

विशेषः—शरवणभवम् देवम्=देखिए—पूर्वमेघ श्लोक ४५ का विशेष भाग।

सिद्ध—द्वन्द्वैः·········मार्गः=सिद्ध—दम्पति स्वामी कार्त्तिकेय को वीणा बजा कर प्रसन्न करने के लिए आते थे। वर्षा के कणों के भय से उन्हें एक—दम मेघ का रास्ता छोड़ देना पड़ा, क्योंकि पानी पड़ जाने से वीणा बजती नहीं; इस लिए वे वीणा को वर्षा की बूँदों से बचाने के लिए रास्ते से भाग निकले, एवं मेघ का रास्ता साफ हो गया।

सुरभि—तनया—लम्भजाम्=कहा जाता है कि पहले कभी राजा रन्तिदेव ने गोमेध नाम के यज्ञों में बहुत सी गौओं का वध किया। उनके चर्म से बहते हुए खून की एक नदी बन गई, जिसका नाम 'चर्मण्वती' पड़ा। इस नदी को आज कल 'चम्बल' कहते हैं। यहां इसी नदी का उल्लेख है। देखो महाभारत (वनपर्व) और भागवत पुराण।

रन्तिदेवस्य कीर्त्तिम्=दशपुर का राजा रन्तिदेव संकृति का छोटा पुत्र था और वह भरत से छः पीढ़ी बाद हुआ। रन्तिदेव बड़ा धर्मात्मा था और उसने कई एक यज्ञ किए। इन यज्ञों में गौओं का वध किया जाता था। इससे उसकी कीर्त्ति दूर-दूर तक फैली ॥४७॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो [1]नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४८॥

अन्वयः—शार्ङ्गिणः वर्णचौरे त्वयि (चर्मण्वत्याः) जलम् आदातुम् अवनते (सति) पृथुम् अपि दूरभावात् तनुम् तस्याः सिन्धोः प्रवाहम् गगन—गतयः नूनम् दृष्टीः आवर्ज्य एकं स्थूल-मध्येन्द्रनीलम् भुवः मुक्तागुणम् इव प्रेक्षिष्यन्ते ॥४८॥

पदार्थः—शार्ङ्गिणः वर्णचौरे=कृष्ण के रंग को चुरानेवाले अर्थात् कृष्ण के रंग के समान काले। त्वयि=तेरे। जलम् आदातुम्=जल लेने के लिए।

१—दूरम्। सु० वि०, सारो०, स० ती०।

अवनते (सति) = झुकने पर। पृथुम् अपि = बड़े भारी (विस्तृत) भी। दूरभावात् = दूर होने के कारण। तनुम् = छोटे। तस्याः सिन्धोः = उस नदी (चर्मण्वती) के। प्रवाहम् = बहाव को। गगनगतयः = आकाश में विचरण करने वाले (सिद्ध, गन्धर्व आदि)। नूनम् = अवश्य। दृष्टीः आवर्ज्य = आँखों को नीचे करके, दृष्टि डालकर। स्थूलमध्येन्द्र-नीलम् = जिसके मध्य में एक महान् इन्द्र-नील मणि लगा हुआ है, ऐसी। भुवः = पृथ्वी की। एकं मुक्तागुणम् इव = मानो कि मोतियों की एक लड़ीवाली माला हो ऐसा। प्रेक्षिष्यन्ते = देखेंगे ॥ ४८ ॥

भावानुवादः—कृष्ण का रंग चुरानेवाले (अर्थात् काले-काले) तेरे (चर्मण्वती के) जल को लेने के लिए नीचे झुकने पर, आकाश में विचरनेवाले (सिद्ध-गन्धर्व आदि) उस नदी के प्रवाह को, जो विस्तृत होने पर भी दूर होने के कारण छोटा-सा (लगता) है, आँखों को नीचे की ओर करके यों देखेंगे मानो कि (यह) पृथ्वी की एक-लड़ी मोतियों की माला हो, जिसके मध्य में इन्द्र-नील मणि लगा हुआ है ॥४८॥

व्याकरणम्—शार्ङ्गिणः = शृङ्गस्येदं शार्ङ्गम् (धनुः) तदस्यास्तीति शार्ङ्गी तस्य। शृङ्ग+अण्+इनि, ष० एक०। वर्णचौरे = वर्णं चोरयतीति वर्णचौरः तस्मिन्। आदातुम् = आ+√दा, (जु० उभ०) + तुमुन्। अवनते = अव+√नम्+क्त, कर्त्तरि। दूरभावात् = दूरस्य भावः √भू+घञ् भावे, तस्मात्। गगनगतयः = गगने गतिर्येषां ते (ब० ब्री०)। आवर्ज्य = आ+√वृज्, (रु० प०) + य (ल्यप्)। दृष्टीः = दृष्टि का द्वि० बहु०। स्थूलमध्येन्द्रनीलम् = मध्यः इन्द्रनीलः (कर्मधा०)। स्थूलः मध्येन्द्रनीलः यस्य (बहुव्री०) तम्। 'मुक्तागुणम्' का विशेषण। मुक्तागुणम् = मुक्तायाः गुणम् (ष० तत्पु०); यह 'प्रवाहम्' का उपमान है। प्रेक्षिष्यन्ते = प्र + √ईक्ष्, (भ्वा० आ०, देखना), लृट्, प्र० पु० बहु०। नूनम् = अव्यय ॥४८॥

विशेषः—वर्णचौरे = देखिए—पूर्वमेघ ४९ कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम्'। और देखिए—पूर्वमेघ १५ 'येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिम्·······गोपवेषस्य विष्णोः।'

पृथुमपि तनुम् = इसका भावार्थ यह है कि वैसे तो चर्मण्वती का बहाव विस्तृत है, परन्तु आकाश में विचरण करनेवाले सिद्ध-गन्धर्व आदि जब दूर से इसे देखेंगे, तो यही बहाव छोटा सा प्रतीत होगा। इस अवस्था में यह नदी,

जिससे जल लेने के लिए बादल इसके एक कोने की ओर झुका है, स्वयं एक लड़ीवाली मोतियों की माला के समान प्रतीत होगी और उस पर स्थित काले रंग का बादल उस माला का मध्य-नील-मणि प्रतीत होगा। इस सम्बन्ध में देखिए—अभि० शाकु० VII. ८ 'सन्तानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः।' इस श्लोक के अन्तर्गत विचार के लिए देखिए—रघु० XIII. ४८ 'एषा प्रसन्न-स्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी। मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः।

आवर्ज्य=सरस्वती० इसका अर्थ 'नमयित्वा' सारोद्धा० 'आनम्य' और बल्लभ 'निक्षिप्य' करते हैं। इन सब अर्थों से 'झुकना अथवा नीचे फेंकना' का आशय स्पष्ट है। इस प्रकार यह अर्थ मल्लि० के द्वारा किए गए 'नियम्य' (रोककर) इस अर्थ की अपेक्षा अच्छा प्रतीत होता है।

इस श्लोक में चर्मण्वती नदी पर मोतियों की लड़ी की संभावना की जाने से उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥४८॥

तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम् ।
कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं[1]
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥४९॥

अन्वयः—ताम् (चर्मण्वतीम्) उत्तीर्य (त्वम्) आत्मबिम्बम् परिचित-भ्रूलता-विभ्रमाणाम् पक्ष्मोत्क्षेपात् उपरि-विलसत्-कृष्ण-शार-प्रभाणाम् कुन्द-क्षेपानुग-मधुकर-श्रीमुषाम् दशपुर-वधू-नेत्रकौतूहलानाम् पात्रीकुर्वन् व्रज ॥४९॥

पदार्थः—ताम्=उस (चर्मण्वती) को। उत्तीर्य=लांघकर। आत्मबिम्बम्=अपने स्वरूप (मूर्ति) को; अपने आप को। परिचितभ्रूलताविभ्रमाणाम्=जो बेल सी लम्बी भौंहों के बिलास से परिचत (अभ्यस्त) हैं। पक्ष्मोत्क्षेपात्=पलकों के ऊपर उठाने के कारण। उपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्= जिनमें काले, लाल तथा सफेद ('कृष्णरक्त-सिताः शाराः' इति यादवः) कान्ति ऊपर शोभा दे रही है। कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम्=जो चमेली के फूलों के इतस्ततः हिलने डुलने के अनुसार (स्वयं भी) हिलने-डुलने वाले भ्रमरों की शोभा चुराने वाले हैं। दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्=दशपुर (नगर) की स्त्रियों के

१—जुषाम्। विल्सन; युषाम्।

आंखों के कौतूहलों अर्थात् कौतूहल-भरे उनकी आंखों का। पात्रीकुर्वन्=पात्र, विषय बनाता हुआ। व्रज=जाना ॥४९॥

भाषानुवादः—उस (चर्मण्वती) को पार करके (तुम) अपने स्वरूप (अपने आप) को (रन्तिदेव के नगर) दशपुर की नवयुवतियों की (उन) आँखों के कौतूहलों का विषय बनाते हुए जाना, जो बेल सी (लम्बी-लम्बी) भौंहों के विलास में अभ्यस्त हैं, जिनके पलकों के उठाने कारण काली, श्वेत तथा लाल रंगों की कान्ति ऊपर विलास करती रहती है और जो चमेली के फूलों के इधर-उधर हिलने-डुलने के पीछे (स्वयं भी) हिलने-डुलनेवाले भ्रमरों की शोभा को चुराती हैं ॥४९॥

व्याकरणम्—उत्तीर्य=उत्+√तॄ, (भ्वा० प०, तैरना)+य (ल्यप्)। आत्मबिम्बम्=आत्मनो बिम्बः (मूर्त्तिः, स्वरूपम्) आत्मबिम्बस्तम्। परिचित-भ्रूलता०=परिचिताः भ्रुवो लताः इव भ्रूलताः तासाम् (उपमितसमासः) विभ्रमा विलासाः येषु तेषाम् (ब० व्री०)। पक्ष्मोत्क्षेपात्=पक्ष्माणि नेत्रलोमानि तेषामुत्क्षेपादुन्नमनात्; उत्+√क्षिप् (तुदा० प० फेंकना)+अ (घञ्)। उपरिविलसत्कृष्ण०=उपरिविलसन्त्यः कृष्णाश्च ताः शाराश्च कृष्णशाराः नील-शबलाः ('वर्णो वर्णेन' समासः) प्रभाः येषां तेषाम् (ब० ब्री०)। कुन्दक्षेपानुगमधुकर०=कुन्दानां क्षेप इतस्ततश्चलनं तस्यानुगा अनुसारिणो ये मधुकरास्तेषां श्रियं मुष्णन्तीति तथोक्तानाम्। मुषाम्=√मुष्, (क्र्या० प० चुराना) क्विप्। दशपुरवधूनेत्र०=दश पुराणि यत्र तत् दशपुरम् तस्य वध्वस्तासां नेत्राणि तेषां कौतूहलानां नेत्राभिलाषाणाम् सकौतहलदृष्टीनामित्यर्थः। पात्रीकुर्वन्=अपात्रं पात्रं सम्पद्यमानं करोति इति पात्रीकुर्वन्; पात्र+च्वि+√कृ+अत्(शतृ)। व्रज=√व्रज्, (भ्वा० प०, जाना), लोट्, म० पु० एक० ॥ ४९॥

विशेषः—कृष्णशारप्रभाणाम्=यद्यपि 'शार' शब्द का अर्थ 'कृष्ण-रक्त-सिताः शाराः' यादव कोष के अनुसार काला-लाल-श्वेत अर्थ होने से आँखों के तीनों ही रंगों का ग्रहण हो जाता है; फिर पृथक् दिये गए 'कृष्ण' शब्द के कारण यहां काले रंग का प्राधान्य विवक्षित है, अर्थात् प्रधानतः काले, देखिए—'कृष्णशारच्छवियोंसौ...... कटाक्ष इव पातित.' विक्र. IV. ३१।

कुन्दक्षेपानुगमधुकर०=कुन्द (चमेली) का फूल सफेद होता है और इसके मध्य में बैठा हुआ भ्रमर काला होता है। इस प्रकार भ्रमर से युक्त कुन्दकी

समानता दशपुर की स्त्रियों के उन नेत्रों से की गई है, जो स्वयं 'श्वेत होते हुए' काली-काली पुतलियों से शोभित हैं। आंखां में लाली भी रहती है, परन्तु यहां वह कवि को विवक्षित नहीं; एक तो--इसलिए कि उपमान 'भ्रमर-युक्त-कुन्द' से समानता दिखानी है; उसमें लाली नहीं है, दूसरे—स्त्रियों के नेत्रों में लाली किसी कारण से आती है, स्वभावतः नहीं। स्त्री-नेत्र में स्वाभाविक लाली सामुद्रिक शास्त्रानुसार एक अशुभ लक्षण होता है।

दशपुर=इसका आधुनिक नाम 'दसोर' अथवा 'मन्दसोर' है जो सिवदा के उत्तर अथवा दक्षिण तट पर है। यह मध्य-भारत के पश्चिमी मालव मण्डल (Division) में इस नाम के जिले का प्रचीन काल में बहुत वैभव सम्पन्न नगर होगा, क्योंकि इसका वर्णन महाभारत, नासिक शिलालेखों तथा गुप्तवंश के शिलालेखों में आता है।

विभ्रम=इसके अर्थ के लिए यह श्लोक देखिए--"हावो मुखविकारः स्यात् भावश्चित्तसमुद्भवः। विलासो नेत्रयोः ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूसमुद्भवः।"

नेत्रकौतूहलानाम्=इस पर सारो० का इस प्रकार कथन है—दशपुराभिधाननगर-नारी-नयनाश्चर्यालोकनानां कौतुकं कारणं विलोकितं कार्यम्। कारणे कार्योपचारात्कौतुकं जनयन्निरीक्षितानामिति भावः।

श्रीमुषाम्=सुन्दरता को चुरानेवाले अर्थात् सुन्दरता का अनुकरण करनेवाले। देखिए--पूर्वमेघ श्लोक ४८ में 'शार्ङ्गिणो वर्णचौरे'।

इस श्लोक में उपमालंकार है ॥४९॥

ब्रह्मावर्तं जनपदमथ[1]च्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्य[2]भ्यवर्षन्मुखानि ॥५०॥

अन्वयः—अथ ब्रह्मावर्तं जनपदम् छायया गाहमानः क्षत्र-प्रधन-पिशुनम् तत् कौरवम् क्षेत्रम् भजेथाः; यत्र गाण्डीवधन्वा शित-शर-शतैः राजन्यानाम् मुखानि धारापातैः कमलानि त्वम् इव अभ्यवर्षत् ॥५०॥

पदार्थः—अथ=इसके बाद। ब्रह्मावर्तं जनपदम्=ब्रह्मावर्त नाम के देश में। गाहमानः=प्रवेश करता हुआ। क्षत्र-प्रधन-पिशुनम्=क्षत्रियों के युद्ध

१—अधः, वल्ल०म० सिं० विल्स० इत्यादि। २—अभ्यसिञ्चत्, विल्स० वल्ल०।

सूचक। तत्=उस (प्रसिद्ध)। कौरवम् क्षत्रम्=कौरवों के क्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र को। भजेथाः=प्राप्त करना, जाना। यत्र=जहां (कुरुक्षेत्र में)। गाण्डीवधन्वा=गाण्डीव धनुष को धारण करने वाले (अर्जुन) ने। शितशरशतैः=सैंकड़ों तेज वाणों से। राजन्यानां मुखानि=क्षत्रियों के शिरों पर। धारापातैः=मूसलाधार वृष्टि गिराने से। कमलानि=कमलों पर। त्वम् इव=तेरी तरह। अभ्यवर्षत्=वर्षा की थी ॥५०॥

भाषानुवादः—इसके अनन्तर ब्रह्मावर्त नाम के देश में छाया द्वारा प्रवेश करते हुए (तुम) क्षत्रियों के युद्ध-सूचक उस प्रसिद्ध कौरवों के क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) को जाना, जहां गाण्डीव धनुषवाले (अर्जुन) ने राजाओं के शिरों पर सैकड़ों तीक्ष्ण वाणयों बरसाए थे जैसे तुम कमलों पर मूसलाधार वृष्टि बरसाते हो ॥ ५० ॥

व्याकरणम्—गाहमानः=$\sqrt{}$गाह्, (भ्वा० आ०, प्रवेश करना)+शानच्, प्र० एक०। क्षत्रप्रधनपिशुनम्=क्षत्राणां प्रधनं युद्धम् ('युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः) तस्य पिशुनम् सूचकम्। कौरवम्=कुरूणामिदं कौरवम्; कुरु+अ (तद्धितप्रत्यय। भजेथा=$\sqrt{}$भज्, (भ्वा० उभ०, सेवा करना, प्राप्त करना) विधिलिङ् म० पु० एक०। 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' आत्मनेपदम्। गाण्डीवधन्वा=गाण्डी = ग्रन्थिरस्यास्तीति गाण्डीवम्। यहां मतुप् अर्थ में 'व' प्रत्यय लगा है। गाण्डीवं धनुर्यस्य स गाण्डीवधन्वा (ब० व्रो०)। बहुव्रीहि समास में धनुस् को अनङ् आदेश होकर धन्वन् हो जाता है। राजन्यानाम्' राज्ञाम् अपत्यानि पुमांसः राजन्याः तेषाम् राजन्+यत् (अपत्यार्थक) शितशरशतैः=शिता ये शराः तेषाम् शतैः। शित=$\sqrt{}$शो (दि० प०) +त। धारापातैः=धाराणामुदक-धाराणां पातैः पातनैः। अभ्यवर्षत्=अभि +$\sqrt{}$वृष्, (भ्वा० प०, बरसना), लङ् प्र० पु० एक० ॥५०॥

विशेषः—ब्रह्मावर्तम् =यह सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्य का देश है। देखिए—मनु० II. १७ 'सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥' दृषद्वती घग्गर नदी का प्राचीन नाम है। ब्रह्मावर्त देश हस्तिनापुर के उत्तर पश्चिम में कुरुक्षेत्र के समीप है। अम्बाला आदि इसी के अन्तर्गत हैं।

क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनम् =कौरवों और पाण्डवों के मध्य हुए युद्ध का अनुमान करा देने वाला स्थान। मल्लि० के अनुसार यहां युद्ध में मारे गए मनुष्यों के

कपाल (मुण्ड) तथा अस्थिपञ्जर मिलते हैं; साथ ही यहां की सारी भूमि (रुधिर से) रंगी हुई है, इससे यहां लड़े गए भूतपूर्व युद्ध का अनुमान हो जाता है। यह स्थान जिसे कुरुक्षेत्र कहते हैं थानेश्वर के कुछ दक्षिण-पूर्व में स्थित है। महाभारत वनपर्व० के ८३.४ 'दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्योत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे ॥' इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि कुरूक्षेत्र सरस्वती के दक्षिण से दृषद्वती के उत्तर तक फैला हुआ था। यह अम्बाला छावनी से २० मील दिल्ली की ओर है। कुरुक्षेत्र अब भी तीर्थ स्थान माना जाता है। इसकी पवित्र भूमि सरस्वती नदी के जल से सींची गई है। सरस्वती अब पृथ्वी में समा चुकी है। कुरुक्षेत्र में इस महाभारत युद्ध के लिए देखिए भगवद्गीता I. १, 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥'

गाण्डीवधन्वा='गाण्डीव' अर्जुन के धनुष का नाम था इसलिए इस धनुष को धारण करने के कारण अर्जुन का नाम 'गाण्डीवधन्वा' या 'गाण्डीवधारी' पड़ा है। देखिए--भगवद्गीता I. ३० 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्।'

अभ्यवर्षन्मुखानि= देखिए, रघु० XV. ५८ योधाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः।'

इस श्लोक में अर्जुन की बाण-वर्षा की तुलना बादल की जल-वर्षा से की जाने के कारण उपमा अलंकार है ॥५०॥

[1]हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
[2]बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा तासा[3]मधिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमपि[4] भविता वर्णमात्रेण कृष्णः ॥५१॥

अन्वयः--बन्धुप्रीत्या समर-विमुखः लाङ्गली अभिमतरसाम् रेवती-लोचनाङ्काम् हालाम् हित्वा याः (अपः) सिषेवे, हे सौम्य ! तासां सारस्वतीनाम् अपाम् अधिगमम् कृत्वा अन्तःशुद्धः त्वम् अपि वर्ण-मात्रेण कृष्णः भविता (न तु पापेन) ॥५१॥

पदार्थः--बन्धुप्रीत्या =बान्धवों के प्रति प्रेम के कारण। समर-विमुखः = युद्ध से मुंह मोड़े हुए। लाङ्गली =बलराम ने। अभिमतरसाम् =जिसका स्वाद

१--कृत्वा. छित्त्वा। २--बन्धुस्नेहात्, का० पा० आदि। ३-अभिगमम् मल्लि० सारो० विल्स० इत्यादि। ४--त्वमसि, मल्लि०।

(रस) उन्हें अच्छा लगता था, अभीष्ट स्वादवाली । रेवतीलोचना-ङ्काम् =रेवती (बलराम की स्त्री) के नेत्रों (के प्रतिबिम्बों) से चिह्नित। हालाम् =मदिरा को । हित्वा =छोड़कर । याः =जिस (सरस्वती के जल)को । सिषेवे =सेवन किया । (हे) सौम्य =हे सुभग ! । तासाम् सारस्वतीनाम् अपाम् =उस सरस्वती नदी के जल का । अधिगमम् कृत्वा =सेवन करके, प्राप्त करके । अन्तः शुद्धः त्वम् अपि =अन्दर से शुद्ध हुए तुम भी । वर्णमात्रेण = केवल रंग से ही । कृष्णः =काले । भविता =रहोगे ॥५१॥

भाषानुवादः——बन्धुओं के प्रति प्रेम (होने के कारण) युद्ध से विमुख होकर बलराम ने स्वाद में अनुकूल (अच्छी) लगनेवाली तथा रेवती के (प्रतिबिम्बित) नेत्रों द्वारा चिह्नित मदिरा को त्याग कर सरस्वती नदी के जिस जल का सेवन किया था, उसका सेवन करके, हे सुभग ! भीतर से शुद्ध हुए तुम भी केवल रंग से ही काले रहोगे (न कि पाप से) ॥५१॥

व्याकरणम्——बन्धुप्रीत्या =बन्धूनाम् (कौरव-पाण्डवानां) प्रीत्या । समर-विमुखः =समरात् विमुखः (प० तत्पु०) । लाङ्गली =लाङ्गलम् (हलम्) अस्यास्तीति–लाङ्गल+इन् (इनि) । अभिमतरसाम् =अभिमतो रसो यस्या-स्ताम् । (ब० व्री०) रेवतीलोचनाङ्काम् =रेवत्याः स्वप्रियायाः लोचने एवाङ्कं (प्रतिबिम्बरूपम्) चिह्नं यस्यास्ताम् (ब० व्री०) हित्वा =√हा, (जुहो० प०, छोड़ना)+त्वा । सिषेवे =√सेव्, (भ्वा० आ०, सेवन करना), लिट्, प्र० पु० एक० । तासाम् =तद् स्त्री० का ष० बहु० । सारस्वतीनाम् = सरस्वती=सरांसि (जलानि) सन्ति अस्याः इति; सरस्+वतुप् स्त्रियाम् । सरस्वत्या नद्या इमाः सारस्वत्यस्तासाम्, सरस्वती+अण् ङीप् । अपाम् (जलस्य) =अप् शब्द का ष० बहु० । यह शब्द नित्य बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है । अधिगमम् =अधि+√गम्+अप्, भावे, नपुं० एक० । अन्तः शुद्धः = अन्तः अन्तरात्मनि शुद्धः निर्मलः । वर्णमात्रेण=वर्ण एव वर्णमात्रम् तेन । कृष्णः भविता =√भू+तृ, प्र० एक० ॥५१॥

विशेषः——बन्धुप्रीत्या =कौरव पाण्डवों की लड़ाई में यद्यपि कृष्ण ने पाण्डवों का साथ दिया, परन्तु बलराम किसी का भी पक्ष न लेकर सरस्वती तथा अन्य तीर्थों पर यात्रा के लिए चले गए। देखिए भागवत पुराण XII ।

लाङ्गली =यह बलराम का नाम है। बलराम का प्रधान शस्त्र 'लाङ्गल' (हल) था, जिससे वे अपने शत्रुओं को खदेड़ते थे । बलराम कृष्ण

के बड़े भाई थे और इन्हें शेषनाग का अवतार समझा जाता है। ये वसुदेव और देवकी के सातवें पुत्र थे। कंस के दुराचार से बचने के लिए वे वसुदेव की दूसरी स्त्री रोहिणी के गर्भ में अवतीर्ण हुए थे।

रेवतीलोचनाङ्काम्=रेवती बलराम की पत्नी थी और अपने पति के साथ पानोत्स वों में भाग लिया करती थी। इसलिए एक साथ इकट्ठे बैठकर मदिरा पीने के समय उसमें रेवती के नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ जाया करता था और तब वह मदिरा 'रेवती-लोचनाङ्क' बन जाती थी। सारोद्धा० कहती है—'सहपानाद्रेवती–प्रतिबिम्बसंभवः'। देखिए–ऋतु० I. ३ 'प्रियामुखोच्छ्वास-विकम्पितं मधु'। और देखिए रघु० IX. ३६ 'पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डन–वर्जितम्।'

हित्वा हालाम्=एक बार भ्रमण करते हुए बलराम ने नैमिषारण्य में ऋषियों के साथ यज्ञ करते हुए सूतका, जिसने उनका सत्कार नहीं किया था, कुशा के अग्रभाग से वध कर दिया था। एवं उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगा। इसके प्रायश्चित्तरूप ऋषियों ने उन्हें तीर्थों की यात्रा करते हुए भारतवर्ष की प्रदक्षिणा करने को कहा। सम्भवतः बलराम ने प्रायश्चित्त स्वरूप मदिरा-सेवन छोड़ दिया और तीर्थों की यात्रा करते हुए किए गए पाप से निर्मुक्त होने के लिए उन्होंने सरस्वती नदी में स्नान किया, क्योंकि कहा जाता है कि सरस्वती का जल पवित्र है।

सौम्य=इस स्थान पर तथा अन्य स्थानों पर वल्लभ 'सोम्य' पाठ पढ़ता है और इसकी व्याख्या 'सोम इव सोम्यः' (शाखादिभ्यो यत्,) परन्तु शाखादिगण आकृतिगण नहीं है और ना ही यह शब्द शाखादिगण में आया हुआ है। क्षीरस्वामी इस शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है—सोमदेवताऽस्येति सौम्यम् 'सोमाट्यण्, सुन्दरे तूपचारात्'। अमरसिंह और क्षीरस्वामी पुराने प्रामाणिक कोषकार हैं। अमर० लिखता है 'सौम्यं तु सुन्दरे सोमदेवते'।

सारस्वतीनाम्=देखिए पूर्वमेघ श्लोक ५० का 'विशेष' सरस्वती भारत की पवित्र नदियों में से एक नदी है। यह हिमालय के दक्षिण भाग से निकल कर कुरुक्षेत्र के कुछ उत्तर-पश्चिम में बहती हुई मरुस्थल में लीन हो जाती है।

अधिगमम् =मल्लि० ने इसके स्थान में 'अभिगमम्' पाठ दिया है । अन्य टीकाकार पार्श्व० बल्लभ 'अधिगमन्' पाठ देते हैं । 'अभिगम' का अर्थ 'पास जाना' तथा 'सम्पर्क' है और अधिगम का अर्थ 'सेवन' या 'प्राप्ति' है जो प्रकरण के अनुसार उचित प्रतीत होता है ।

अन्तःशुद्धः =बलराम को सरस्वती नदी पर सूत के वध का प्रायश्चित्त करने के लिए भेजा गया था। यह वध कृष्ण के आदेश से किया गया था। सरस्वती पर जाकर बलराम ने अपने अन्तःकरण को इसके जल से शुद्ध किया था। बादल को कहा गया है कि वह भी बलराम के समान सरस्वती के जल का सेवन कर शुद्ध अन्तःकरणवाला हो जायगा । बाहर से काले रहने को कोई बात नहीं। बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि का अधिक महत्त्व है।

त्वमपि भविता =मल्लि० के अनुसार 'त्वमसि भविता' पाठ में 'भविता' शब्द भू धातु से कर्तरि तृच् प्रत्ययान्त है। 'असि' √अस्, (अदा०प०) (होना), लट्, मध्यम पु० एक०की क्रिया है, जो कि निकट भविष्यार्थ में 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस पाणिनीय सूत्र से सिद्ध हुई है, किन्तु यदि 'भविता' को भू धातु के लुट् का म० पु० एक० माने तो 'भवितासि' ऐसा प्रयोग होना चाहिए था न कि 'असि भविता'। छन्द की दृष्टि से ही भू धातु से 'भवितासि' इस लुट् के रूप का 'असि' अंश 'भविता' से पूर्व पृथक् रक्खा गया है, जो कि पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध है, किन्तु ऐसे उदाहरण संस्कृत-साहित्य में बहुत पाए जाते हैं। देखिए रघु० IX. ६ 'तं पातयां प्रथममास'। पुनः रघु० XIII. ३६ 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार'। और देखिए-भट्टि III. ५ 'उक्षां प्रचक्रुर्नगरस्य मार्गान्। इसी प्रकार के प्रयोग अश्वघोष के काव्यों में तथा तत्कालीन शिला-लेखों में भी पाए जाते हैं। श्री शारदारंजनराय उपर्युक्त समर्थन से सहमत नहीं हैं, वे कहते हैं कि ऊपर के उदाहरणों में 'आम्' प्रत्ययान्तों का असली धातु से पृथक् करण पाया जाता है न कि अन्य प्रत्ययान्तों का भी। इसलिए वे भी 'असि' के स्थान में 'अपि' पाठ को मानते हैं जैसा कि बल्लभ ने भी माना है ॥५१॥

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ।
गौरीवक्त्रभृकुटिरचनां या विहस्येव[1] फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥५२॥

१—विहस्यैव, विल्स० ।

अन्वयः—तस्मात् (कुरुक्षेत्रात्) अनुकनखलम् शैलराजावतीर्णाम् सगर-तनय-स्वर्ग-सोपान-पङ्क्तिम् जह्नोः कन्याम् गच्छेः या (जाह्नवी) गौरी-वक्त्र-भृकुटि-रचनां फेनैः विहस्य इव इन्दु-लग्नोर्मि-हस्ता (सती) शम्भोः केशग्रहणम् अकरोत् ॥ ५२ ॥

पदार्थः—तस्मात्=वहां (कुरुक्षेत्र)से। अनुकनखलम्=कनखल के समीप। शैलराजावतीर्णाम्=हिमालय से उतरती हुई। सगर-तनय-स्वर्ग-सोपान-पङ्क्तिम्=(राजा) सगर के पुत्रों की स्वर्ग की सीढ़ी (रूप)। जह्नोः कन्याम्=जह्नु की कन्या (जाह्नवी) अर्थात् गङ्गा को। या=जिस(गङ्गा)ने। गौरीवक्त्र-भृकुटि-रचनाम्=गौरी (पार्वती) के मुख पर भ्रूभङ्गों (तेवड़ी) की क्रिया का। फेनैः (झाग से)। विहस्य इव=मानो उपहास करके। इन्दु-लग्नोर्मि-हस्ता=चाँद को छू रहे लहररूपी हाथोंवाली। शम्भोः=महादेव के। केश-ग्रहणम् अकरोत्=बालों को पकड़ लिया ॥५२॥

भाषानुवादः—वहां (कुरुक्षेत्र) से कनखल के समीप हिमालय से उतरी हुई, सगर के पुत्रों की स्वर्ग की सीढ़ी-रूप जाह्नवी (गङ्गा) को जाना, जिसने गौरी के मुख पर (प्रकट हुए) भ्रू-भङ्ग-रचना का मानो झाग से उपहास करके लहर-रूपी हाथों से चन्द्रमा सहित शिवजी के केशों को पकड़ लिया ॥५२॥

व्याकरणम्—अनुकनखलम्=कनखलस्य समीपेऽनुकनखलम् (अव्ययीभाव)। शैलराजावतीर्णाम्=शैलानां राजा शैलराजः तस्मात् 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इससे 'टच्' प्रत्यय हुआ। राजन् के बाद टच् प्रत्यय लगने से शैलराज समास हुआ। इसके रूप 'राम' के समान चलेंगे। अवतीर्णाम्-अव+√तॄ (तु० प०)+न (क्त), स्त्री० द्वि० एक०। सगरतनयस्वर्ग०=सगरस्य तनयानां स्वर्गस्य सोपानानां पङ्क्तिम्। जह्नोः कन्याम्=जाह्नवीम्। जह्नोः 'जह्नु', का ष० एक०। गच्छेः=√गम् विधिलिङ्, म० पु० एक। गौरीवक्त्रभ्रुकुटि०=गौर्या वक्त्रे या भ्रुकुटिः तस्या रचना ताम्, भ्रुकुटिः=भ्रुवोः कुटिः (ष० त०) भ्रूकुसीदीनाम् इस वार्तिक से भ्रू के ऊ में विकल्प से ह्रस्व हो जाता है। विहस्य=वि+√हस् [भ्वा० प०],+य (ल्यप्)। इन्दुलग्नोर्मिहस्ता=इन्दौ लग्ना ऊर्मयः एव हस्ताः यस्याः सा (बहुव्री०)। शम्भोः=शम्भु का ष० एक०। केशग्रहणम्=केशानां ग्रहणम् (ष० तत्पु०)। अकरोत्= √कृ, (त० उभ०, करना), लङ्, प्र० पु० एक० ॥५२॥

विशेष:—अनुकनखलम् =कनखल हरिद्वार के समीप उस स्थान का नाम है, जहां गङ्गा पहाड़ों से होती हुई समतल भूमि पर बहती है। 'कनखल' की निरुक्ति विल्सन (Wilson) महोदय के अनुसार स्कन्द पुराण के गङ्गामाहात्म्य-विभाग में दिए गए इस श्लोक में दी गई है—'खलः को नाम मुक्ति नो भजते तत्र मज्जनात् । अतः कनखलं तीर्थं नाम्ना चक्रुर्मुनीश्वराः ॥' हरिवंशपुराण के निम्न-लिखित श्लोकों में भी 'कनखल' का वर्णन आया है—'गङ्गाद्वारं कनखलं सोमो वै तत्र संस्थितः' और 'हरिद्वारे कुशावर्ते नीलके भिल्लपर्वते । स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते' ॥

मल्लि० 'अनुकनखलम्' से 'कनखलस्याद्रेः समीपे' यह अर्थ लेता है। इस विचार से गङ्गा कनखल अद्रि (पर्वत) से उतरती हुई सम-तल भूमि पर आ जाती है। इसका समर्थन महाभारत, वन पर्व के १३५ अ० श्लो० ५ से होता है 'एते कनखला राजन् ऋषीणां दयिता नगाः।' सम्भवतः इस स्थान का यह नाम यहां (कनक) सोने के पाए जाने से पड़ा हो। 'कनकखल' से बदल कर बाद में 'कनखल' यह नाम हो गया हो। इस सम्बन्ध में देखिए–कथासरित्सागर III. ४–५ 'तीर्थं कनखलं नाम गङ्गाद्वारेऽस्ति पावनम् । यत्र काञ्चनपातेन जाह्नवी देवदन्तिना । उशीनरगिरिप्रस्थाद्भित्त्वा तमवतारिता ॥'

जह्नोः कन्याम् =जब भगीरथ गङ्गा को पृथ्वी पर लाए तब बहती हुई गङ्गा ने जह्नु, ऋषि के तपोवन को बहा दिया, इससे इस ऋषि की तपस्या में भंग पड़ गया और उसने गङ्गा के जल को पी लिया, परन्तु भगीरथ के अनुनय-विनय करने पर उसकी ढिठाई को क्षमा करके उसने अपने कान से इसकी धारा को पुनः प्रवाहित कर दिया। इसी कारण गङ्गा को जाह्नवी, जह्नुजा या जह्नुतनया कहते हैं।

हमें कोई कारण मालूम नहीं होता कि क्यों कालिदास ने हरिद्वार को छोड़ कर कनखल का वर्णन किया है, जब कि हरिद्वार का नाम पुराणों में पाया जाता है और इस सम्बन्ध में मत्स्य पु० का यह श्लोक उद्धृत किया जाता है—'सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा । हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसंगमे ॥'

सगरतनयस्वर्ग० =सगर सूर्यवंशी राजा था। उसकी विमाता न जन्म से पूर्व उसकी माता को विष (गर, गरल) दे दिया था। जन्म के बाद उसका नाम 'सगर' (स-गर)—विषवाला पड़ा। सगर की दो रानियां थीं, जिनका

नाम केशिनी और सुमति था। उन्हें भृगु से दो वर प्राप्त हुए। पहले वर से केशिनी के असमञ्जस नाम का पुत्र हुआ और दूसरे वर से सुमति के ६०,००० पुत्र हुए। असमञ्जस के पुत्र का नाम अंशुमान्, उसके पुत्र का नाम दिलीप और उनके पुत्र का नाम भगीरथ था। जब राजा सगर ९९ यज्ञ कर चुका और सौवां यज्ञ करने के लिए उसने अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा, तब स्वर्ग में इन्द्र का आसन डोलने लगा। इन्द्र ने घोड़े को चुरा कर पाताल में कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। पृथ्वी पर घोड़े को खोजते-खोजते सगर के ६०,००० पुत्र पाताल जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने कपिलमुनि के आश्रम में चरता हुआ वह घोड़ा देखा। इस पर कपिल को चोर समझकर वे उसे मारने दौड़े। क्रुद्ध होकर कपिल मुनि ने अपने तेज से उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। वहाँ वे सेकड़ों साल भस्म के रूप में पड़े रहे। अंशुमान घूमते घूमते कपिल मुनि के आश्रम में गए और वहाँ उन्होंने अपने भाइयों की भस्म देखी। वैनतेय सुपर्ण ने कहा कि सगर के पुत्रों का उद्धार स्वर्गीय गङ्गा के पवित्र जल से ही हो सकता है। यह कठिन काम न तो सगर, न उसका पुत्र असमंजस, न प्रपौत्र अंशुमान् न परप्रपौत्र दिलीप ही कर पाया। सगर के पर-पर-प्रपौत्र (Great Great-Grandson) भगीरथ ने यह काम अपने हाथ में लिया और वे कठोर तपस्या करके गङ्गा की धारा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने में सफल हुए। एवं उन्होंने गङ्गा जल से अपने ६०,००० चचेरे प्रपितामहों का उद्धार किया। यह कथा रामायण बाल० के XXXV–XLIV सर्गों में वर्णित है। इस सम्बन्ध में देखिए उत्तर० I. २३ 'तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे कपिलमहसा रोषात्प्लुष्टान्पितुश्च पितामहान्। अगणिततनूतापांस्तप्त्वा तपांसि भगीरथो भगवति, तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतरत् ॥'

शंभोः केशग्रहणम् = स्वर्ग से उतरती हुई गङ्गा सम्भवतः अपने प्रबल प्रवाह से पृथ्वी को बहा न ले जाय, इस विचार से ब्रह्मा ने भगीरथ को शिव जी से प्रार्थना करने को कहा कि वे पहले गङ्गा को अपने सिर पर धारण करें। ब्रह्मा के आदेश से भगीरथ को पुनः तपस्या करनी पड़ी। एक साल की कठोर तपस्या के बाद प्रसन्न होकर शिव जी ने भगीरथ की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। गङ्गा आकाश से आकर शिवजी की जटाओं में कई साल विचरती रही। अपनी तपस्या के फल को पूर्ण न हुआ जान कर भागीरथ ने फिर शिवजी

की आराधना की और उन्होंने प्रसन्न होकर अपनी जटाओं में स्थित गङ्गा को सात धाराओं (कईयों के अनुसार चार और कुछ एक के अनुसार दस) में प्रवाहित किया। इन धाराओं को 'सप्तसिन्धु' कहते हैं इसी कारण शिवजी को गङ्गाधर, धूर्जटि भी कहते हैं। इस घटना के आधार पर गङ्गा और पार्वती सपत्नियां कही जाती हैं। देखिए--मुद्रा० I. 'धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्याः...... देव्याः निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥ और देखिये रत्ना० I. ३. 'तदुक्तं बहुमार्गगां मम पुरो निर्लज्जवोढुस्तव.......।'

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः=शिव जी की जटाओं में स्थित अपनी सपत्नी गङ्गा को देखकर पार्वती ने ईर्ष्या और क्रोध में आकर तेवड़ी चढ़ाई। इसे देख कर गङ्गा ने अपनी फेन (झाग) से उसका उपहास किया। उठती हुई झाग के सफ़ेद होने के कारण इसको हँसी समझा गया है, क्योंकि कवि-जगत् में हंसी का श्वेत रंग माना जाता है और वह इसलिए कि हंसते समय दांत दिखाई देने लग जाते हैं, जिनसे श्वेत छटा निकलती है। देखिए--रामायण अयो० सर्ग ५० श्लो० १६ 'जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् (गंगां) ददर्श।' इस सम्बन्ध में 'शंभो केशग्रहणम्' पर टिप्पणी देखिए। हितो० की प्रस्तावना श्लोक I में भी देखिए--सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः। जाह्नवीफेन-लेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥'

इन्दुलग्नोर्मिहस्ता=गङ्गा तरंग रूपी हाथों से सिर पर स्थित चन्द्रमा सहित महादेव की जटा को पकड़ लेती हैं जैसे कि कोई प्रौढ़ा नायिका किया करती है। यहां चन्द्रमा को सिर पर धारण की जाने वाली चूड़ामणि माना गया है। देखिए--न्यायमुक्तावली 'चूड़ामणीकृतविधुः..... भवः'। प्रौढ़ा नायिका गङ्गा शिव जी पर अपना पूर्ण स्वत्व दर्शाती हुई चूड़ामणि सहित उनके केशों को खींच लेती हैं, वेचारी पार्वती भ्रुकुटि (तेवड़ी) ताने तकती ही रह जाती है। इस सम्बन्ध में पूर्वमेघ श्लोक ४५ का विशेष भाग तथा ऊपर की टिप्पणियां देखिए।

इस श्लोक के तीसरे पाद में 'उत्प्रेक्षा' और चौथे में 'रूपक' होने से दोनों अलङ्कारों की संसृष्टि है ॥ ५२ ॥

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि [1]पश्चार्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
[2]संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययाऽसौ[3]
स्यादस्थानोप[4]गतयमुना[5]संगमेवाभिरामा ॥५३॥

अन्वयः——सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्ध-लम्बी (सन्) अच्छ-स्फटिक-विशदम् तस्याः (गङ्गायाः) अम्भः तिर्यक् पातुम् त्वम् तर्कयेः चेत् (तर्हि) सपदि स्रोतसि संसर्पन्त्या भवतः छायया असौ (गङ्गा) अस्थानोपगत-यमुना-सङ्गमा इव अभिरामा स्यात् ॥५३॥

पदार्थः——सुरगज इव=ऐरावत (या दिग्गज) के समान । व्योम्नि= आकाश में । पश्चार्धलम्बी=पीछे के आधे भाग से झुके हुए । अच्छस्फटिक-विशदम=निर्मल स्फटिक (बिल्लोर) के समान स्वच्छ । तस्याः=उस (गङ्गा) के । अम्भः=जल को । तिर्यक्=टेढ़े होकर । पातुम् त्वम् तर्कयेः चेत्=यदि तुम पीने का विचार करो । सपदि=एकाएक, सहसा । स्रोतसि= प्रवाह में । भवतः=तुम्हारे । संसर्पन्त्या छायया=चलते हुए प्रतिबिम्ब से । असौ=वह (गंगा) । अस्थानोपगतयमुनासंगमा इव=जिसका मानो कि (प्रयाग से) भिन्न स्थान पर यमुना से संगम (मेल) हो गया हो ऐसी । अभिरामा स्यात्=सुन्दर प्रतीत हो ॥५३॥

भाषानुवादः——ऐरावत (हाथी) के समान पीछे के आधे भाग से आकाश में झुके हुए तुम यदि टेढ़े होकर, उस (गङ्गा) के स्वच्छ स्फटिक (बिल्लौर) के समान निर्मल जल को पीने का यदि विचार करो, तो सहसा जलप्रवाह में पड़ती हुई तुम्हारी परछाई से वह (गङ्गा) ऐसी सुन्दर लगेगी मानो कि उसका (प्रयाग को छोड़कर) अन्यत्र यमुना से सगंम (मेल) हो गया हो॥

व्याकरणम्—व्योम्नि=व्योमन् (नपुं०) स० एक० । पश्चार्धलम्बी= पश्चादर्धं पश्चार्धः पृषोदरादित्वात्साधुः अथवा अपरम्-अर्धम् (कर्मधा०) तेन लम्बते इति पश्चार्धलम्बी । अच्छ-स्फटिक-विशदम्=अच्छश्चासौ स्फटिकः तद्वद्विशदम् । कर्मधा० । अम्भः=अम्भस् (नपुं०) का द्वि० एक० । तिर्यक्= तिरः वक्रम् अञ्चति इति, तिरस्+√अञ्च्+क्विप्, तत् यथा स्यात् तथा । पातुम्=√पा (भ्वा० प०)+तुमुन् । तर्कयेः=तर्कये [चुरा० प०] विधिलिङ्

१——पूर्वार्धलम्बी, बल्ल० विल्स० आदि । २——संतर्प्यन्त्या । ३——सा । ४—उपनत । ५——संगमेन, वल्ल० विल्स० आदि ।

म० पु० एक० । सपदि=अव्यय । स्रोतसि=स्रोतस् (नपुं०) स० एक० । संसर्पन्त्या=सम्+√सृप् (भ्वा० प०)+शतृ+ङीप् स्त्रियाम् संसर्पन्ती, तया । अस्थानोपगतयमुनासंगमा इव=अस्थाने उपगतो यमुनया संगमो यया सा[गङ्गा] । अभिरामा=अभि+√रम्, (भ्वा० आ०)+अ(स्त्रियाम् आ) । स्यात्= √अस्, (अ० प०) विधिलिङ् प्र० पु० एक० ॥५३॥

विशेषः—सुरगज इव=मल्लि० ने इसका अर्थ 'दिग्गज इव' किया है । आठों दिशाओं के आठ अधिष्ठातृ देवता हैं, जिन्हें 'दिक्पाल' कहा जाता है । इन 'दिक्पालों' के नाम अमरकोष में इस प्रकार दिए हैं—'इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ॥' सारो० वल्लभ और सुमति० सुरगज का अर्थ 'ऐरावत' लेते हैं। ऐरावत या ऐरावण इन्द्र का हाथी है और इसका पूर्व दिशा से सम्बन्ध है। इन दिग्गजों के नाम अमर ने इस प्रकार दिए हैं—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥'

पश्चार्धलम्बी=यहां समास में 'पश्चाद्' अनियमित रूप से 'पश्च' में बदल जाता है इसलिए इसे पृषोदरादि के अन्तर्गत माना गया है। 'अपरस्यार्धे पश्चभावो वक्तव्यः' इस वार्तिक से इस समास का 'अपरम् अर्धम् पश्चार्धम्' यह विग्रह भी माना गया है । देखिए—अभि० शा० I ९ 'पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम् ।' कुछ प्रतियों में इसका 'पूर्वार्धलम्बी' पाठान्तर है, जिसका अर्थ अग्र-भाग को नीचे झुकाए हुए हो सकता है । हाथी आगे झुक कर ही पानी पीता है । वल्लभ, सारो० और विल्सन इसी पाठ को मानते हैं, किन्तु पूर्व भाग जल की ओर होने से आकाश (व्योम्नि) में पिछला भाग ही रहेगा, पूर्व नहीं अतः 'पश्चार्ध' वाला पाठ ठीक है ।

तिर्यक्........अस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा= बादल का पीछे के आधे भाग से आकाश में स्थित होकर आगे के भाग से गङ्गा की ओर झुककर पानी लेना हमारे सामने गङ्गा-यमुना के संगम का सुन्दर दृश्य खड़ा कर देता है । यदि उपर्युक्त अवस्था में यमुना बादल रूप होकर गङ्गा से मिलती है, तो दोनों नदियों का संगम अपने स्थान प्रयाग में न होकर उससे भिन्न स्थान में हुआ मानना चाहिए । यहां 'संगम' की संभावना-मात्र की गई है न कि संगम वास्तविक है । इसलिए यहां बल्ल० सारो० सर० ती० तथा विल्सन

द्वारा दिए गए 'सङ्गमेनाभिरामा' पाठ की अपेक्षा 'सङ्गमेवाभिरामा' वाला पाठ ही अच्छा है। अस्थान में नञ्-स्थानीय 'अ' तदन्यत्व का बोध कराता है। गङ्गा-यमुना के संगम का असली स्थान प्रयाग या इलाहाबाद ही है। इस संगम को बड़ा पवित्र मानते हैं। इस प्रकार के भाव के लिए देखिए—रघु० VI. ४८ 'कलिन्दकन्या मथुरागतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति।'

इस श्लोक के पहले पाद में 'उपमा' और चौथे पाद में 'उत्प्रेक्षा' अलङ्कार है ॥ ५३ ॥

आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः ।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां [1]शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥५४॥

अन्वयः—आसीनानाम् मृगाणाम् नाभिगन्धैः सुरभितशिलम्, तस्याः (गङ्गायाः) एव प्रभवम्, तुषारैः गौरम् अचलम् प्राप्य अध्वश्रम-विनयने तस्य (हिमालयस्य) शृङ्गे निषण्णः (त्वम्) शुभ्र-त्रिनयन-वृषोत्खात-पङ्कोपमेयाम् शोभाम् वक्ष्यसि ॥५४॥

पदार्थः—आसीनानाम्=बैठे हुए। मृगाणाम्=कस्तूरों या कस्तूरीवाले मृगों की। नाभिगन्धैः=कस्तूरी की गन्ध से। सुरभितशिलम्=सुगन्धित शिलाओंवाले। तस्याः=उस (गङ्गा) के। प्रभवम्=निकास, उत्पत्तिस्थान। तुषारैः गौरम्=वर्फ से श्वेत। अचलम्=पर्वत पर। प्राप्य=पहुचकर। अध्वश्रमविनयने=मार्ग की थकावट को दूर करनेवाले। तस्य=उस (हिमालय) के। शृङ्गे=चोटी पर। निषण्णः=बैठा हुआ। शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्=शिव जी के श्वेत बैल (नन्दी) के द्वारा उछाले गए कीचड़ से तुलना किए जाने योग्य। शोभाम्=शोभा, सौन्दर्य को। वक्ष्यसि=धारण करेगा ॥५४॥

भावानुवादः—उस (गङ्गा) के उत्पत्ति-स्थान, हिम से श्वेत पर्वत (हिमालय) पर पहुँचकर—जहां की शिलाएं (वहां) बैठे हुए मृगों की कस्तूरी की गन्ध से सुगन्धित रहती हैं—मार्ग की थकावट को दूर करनेवाली उसकी चोटी पर बैठा हुआ (तू) शिव जी के बैल द्वारा (अपने ऊपर) उछाले गए कीचड़ के समान शोभा को धारण करेगा ॥५४॥

१—शुभ्राम्, रम्याम्।

व्याकरणम्--आसीनानाम्=आ+√सद्, (भ्वा० प०) (बैठना)+शानच् मध्य में ईत् आगम, ष० बहु०। नाभिगन्धैः=नाभीनां गन्धाः तैः। (ष० तत्पु०) सुरभितशिलम्=सुरभिताः शिलाः यस्य तम्। (बहुव्री०)। सुरभित--सुरभिं करोति इस अर्थ में णिच् करके सुरभि से 'सुरभयति' यों नाम धातु बना कर कृदन्त त (क्त) प्रत्यय का रूप बना। प्रभवम्=प्रभवति अस्मात्, प्र+√भू, (भ्वा० प०)+अच् (पञ्चम्यर्थं में कृदन्त प्र०)। प्राप्य=प्र+√आप्, (स्वा०प०)+य (ल्यप्)। अध्वश्रमविनयने=अध्वनः श्रमस्य विनयने विनीयते अनेनेति विनयनम् स०एक०,करणार्थ में ल्युट् (अन)। अध्वश्रमः—अध्वनः जातः श्रमः इत्यध्वश्रमः, इस तरह यह मध्यमपदलोपी समास भी माना जा सकता है। निषण्णः=नि+√सद्+न (क्त), प्र० एक०। शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात०=शुभ्रः त्रिनयनस्य यो वृषस्तेनोत्खातः यः पङ्कः तेन सह उपमेयाम्। त्रिनयनः=त्रीणि नयनानि यस्य स त्रिनयनः (ब० व्री०)। वक्ष्यसि=√वह्, (भ्वा० प०, ले जाना, धारण करना) लृट् म० पु० एक० ॥५४॥

विशेषः--नाभिगन्धैर्मृगाणाम्=कस्तूरी को 'नाभिगन्ध' कहते हैं क्योंकि यह कस्तूरे (एक विशेष प्रकार के मृग) की नाभि में उत्पन्न होती है। 'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी च' इत्यमरः, अथवा नाभिगन्ध कस्तूरी को कहते हैं, 'नाभिः प्रदाने कस्तूरीमदे च क्वचिदीरितः' इति विश्वः; उसकी गन्ध से। देखिए—रघु० VI. ७४ 'दृषदो वासितोत्संगा निषण्णमृगनाभिभिः।' रघु० XVII. २४ 'चन्दनेनांगरागं च मृगनाभिसुगन्धिना।' और देखिए—कुमा० I. ५४ 'प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि।'

अध्वश्रम—मार्ग में चलने से पैदा हुई थकावट। देखिए--उत्तर० I. २४ 'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदात्।'

त्रिनयन—तीन नयन (आँखों) वाला देव शिव। इस तरह इनको त्र्यम्बक भी कहते हैं। देखिए--पूर्वमेघ श्लो० ६० 'राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः।' यह तीसरी आँख शिव जी के मस्तक पर कही जाती है। इसी लिए इनको 'निटिलेक्षण भी कहते हैं। देखिए--दश० च० पूर्वपीठिका—'रोषणेक्षणेन निटिलेक्षणेन भस्मीकृतचेतने मकरकेतने।' तीन आँखों वाला होने के कारण शिव जी को 'अयुग्मनेत्र' या 'विषमनेत्र' भी कहते हैं। मस्तकवाली यह आँख क्रोधाग्नि का स्थान है। इससे शिव जी पापियों या विघ्नकारियों का संहार करते हैं।

देखिए—कुमा० III. 'क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति। तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।' और देखिए—उत्तरVII. २ 'पुटभेदो ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः।'

शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खात०=शिव जी का बैल (नन्दी) श्वेत वर्ण का है। वह अपने सींगों से खोद कर कीचड़ अपने ऊपर फेंका करता है। हिमालय पर्वत की चोटी पर स्थित बादल के साथ उसके अपने शरीर पर फेंके गए कीचड़ से उपमा दी गई है। नन्दी के श्वेतरंग के लिए देखिए—'कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः' रघु० II. ३५ और देखिए—कुमा० स० VII. ३७। हाथियों के समान बैल या सांड भी टीलों से या पहाड़ों के अग्रभाग से मिट्टी खोद-खोद कर अपने ऊपर डालते हैं। देखिए उत्तरमेघ, ५३ 'शलादाशु त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः'। और देखिए—रघु० XIII. ४७ 'शृंगाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः'। पूर्वमेघ श्लो० २ में भी बादल की उस हाथी के साथ तुलना की गई ह, जो टीले से मिट्टी उखाड़ कर तिरछे दांतों से प्रहार कर रहा हो ('वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयम्')।

यहां चौथे पाद में 'उपमा' अलंकार है ॥५४॥

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
(रापन्नार्तिप्रशमनफलाः संपदो ह्युत्तमानाम् ॥५५॥) r. c. 1961

अन्वयः—वायौ सरति (सति) सरल-स्कन्ध-संघट्ट-जन्मा, उल्का-क्षपित-चमरी-बाल-भारः दवाग्निः तम् (हिमालयम्) बाधेत् चेत् (तर्हि) एनम् वारि-धारा-सहस्रैः अलं शमयितुम् अर्हसि; उत्तमानाम् सम्पदः आपन्नार्तिप्रशमन-फलाः (भवन्ति) ॥५५॥

पदार्थः—वायौ सरति (सति)=वायु के चलने पर। सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा=देवदा ओं के तनों की रगड़ से उत्पन्न हुई। उल्काक्षपितचमरीबालभारः=चिंगारियों के द्वारा चमरी गायों की पूछों के बालों को झुलस देनेवाली। दवाग्निः=जंगल की आग। तम्=उस (हिमालय) को। बाधेत चेत्=यदि पीड़ित करे। एनम्=इसको (जंगल की आग को)। वारिधारासहस्रैः=जल की हजारों धाराओं से (मूसलाधार पानी से)। अलम्=पर्याप्त रूप से, अच्छी तरह

शमयितुम् अर्हसि=बुझा देने योग्य हो जाना अर्थात् (तुम्हें) उसे बुझा देना चाहिए। हि=क्योंकि। उत्तमानां संपदः=बड़े लोगों की सम्पत्तियां। आपन्नार्तिप्रशमनफलाः=पीड़ितों की विपदा का निवारण ही प्रयोजन रखती हैं ॥५५॥

भावानुवादः—वायु के चलने पर देवदारुओं के तनों (शाखाओं) की रगड़ से उत्पन्न (एवं) चिंगारियों द्वारा चमरी गायों के बालों के समूह को झुलस देनेवाली जंगल की आग यदि उस (हिमालय) को पीड़ित करे (तो तुम्हें) उसे जल की हजारों धाराओं से अच्छी तरह बुझा देना चाहिए ; क्योंकि पीडितों की पीड़ा का निवारण (ही) बड़े लोगों की सम्पत्तियों का प्रयोजन होता है ॥५५॥

व्याकरणम्—वायौ= वायु का स० एक०। सरति=√सृ, (भ्वा० प०) (बहना, चलना)+अत् (शतृ) सति सप्त० (Locative Absolute)। सरल-स्कन्धसंघट्ट-जन्मा=सरलानां स्कन्धास्तेषां संघट्टेन जन्म यस्य सः। (ब० व्री०)। उल्का-क्षपितचमरीबालभारः=उल्काभिः क्षपिताश्चमरीणां बालभाराः (बालानां भाराः) येन। (ब० व्री०)। क्षपित–√क्षै, (भ्वा० प०) (नाश करना)+णिच्+त (क्त) कर्मणि। दवाग्निः=दवस्य अग्निः। ष० तत्पु०। अथवा दव इत्यग्निः दवाग्निः। 'वने च वन-वह्नौ च दवे दाव इतीष्यते' इति यादवः। तम्=तद् (पु०) द्वि० एक०। बाधेत=√बाध्, (भ्वा० आ०, पीड़ित करना), विधिलिङ् (सम्भावनायाम्)+ईत्, प्र० पु० एक०। एनम्=एतद् (पु०) का द्वि० एक०। यह वैकल्पिक रूप अन्वादेश में प्रयुक्त होता है। वारिधारासहस्रैः=वारिणां धाराः वारिधाराः, तासां सहस्रैः (ष० तत्पु०)। अलम्=अव्यय। शमयितुम्=√शम्, [दि० प०] णिच्+तुम् (तुमुन्)। अर्हसि=√अर्ह्, (भ्वा० प०) लट् प्र० पु० एक०। उत्तमानाम्=उत्तम का ष० बहु०। यहां विशेषण विशेष्य बन कर प्रयुक्त हुआ है। सम्पदः=संपद् (स्त्री०) प्र० बहु०। आपन्नार्तिप्रशमन०=आपन्नानामार्त्तिः आपन्नार्त्तिः तस्याः प्रशमनं (प्र+√शम्+ल्युट् भावे) फलं यासां ताः। (ब० ब्री०)। आपन्न–आ+√पद्+न (क्त) कर्त्तरि। आर्त्तिः=आ+√ऋ+क्तिन् भावे ॥५५॥

विशेषः—तं चेद्वायौ=यहाँ 'तम्' के स्थान पर पार्श्वा० 'त्वम्' यह पाठ देता है परन्तु सम्भवतः यह 'तम् के स्थान पर गलती से दिया गया है।

सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा=हिमालय में सरल (देवदारु) के वृक्षों की बहुलता

है और इनके बिना हिमालय का वर्णन अधूरा रहता है। देखिए—कुमा० I. ९। रघु० IV. ७५ 'सरलासक्त-मातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः । आसन्नोषधयो नेतुर्नक्त-मस्नेहदीपिकाः ॥' सरल के वृक्षों, बांसों तथा अन्य प्रकार के वृक्षों की शाखाओं के परस्पर टकराने से पर्वतों में आग लग जाना कोई नई बात नहीं। घने जंगलों में भी वृक्षों की रगड़ के आग लग जाती है। इस सम्बन्ध में ऋतु० I के २३–२७ श्लोक देखिए । मल्लि० ने सरल से देवदारु वृक्ष लिया है, किन्त शारदा-रञ्जनराय के विचारानुसार सरल देवदारु नहीं होता, प्रत्युत देवदारु की जातिका एक अन्य ही वृक्ष होता है। संभवतः उनका अभिप्राय चीड़ या कैल से हा। इन्हें सरल इस लिए कहते हैं कि ये सीधे लम्बे होते हैं ।

उल्काक्षपितचमरीबालभारः=चमरी एक प्रकार का गौ-जैसे आकार का मृग-विशेष होता है, जिसे 'याक' (Yak) भी कहते हैं। ये तिब्बत में बहुत होते हैं । इनकी पूछ घने गुच्छेदार बालोंवाली होती है । जंगल के जलते समय आग इनकी पूछों को जल्दी लग जाती है। सारो० ने चमरी को 'अरण्यगवी' कहा है। उल्का-चिंगारियाँ या आग की ज्वालाएं।

दवाग्निः=इसे जंगल की आग कहते हैं। इस अग्नि के लगने का कारण ऊपर कहा जा चुका है । जब यह आग प्रचण्ड हो जाती है, तो यह सारे के सारे जंगल को जलाए बिना बुझने का नाम नहीं लेती। देखिए—भामिनी वि० 'दव-दहन-जटा-लज्वाल-जाला-हतानाम् ।

वारिधारासहस्रैः=जंगल की आग का बुझना कठिन-सा कार्य है। इसी विचार कवि ने बादल को कहा है कि तू इस अग्नि की हजारों जलधाराओं से अर्थात् मूसलाधार पानी बरसा कर शान्त करना।

अलम्=सुमति० और सारो० ने इसका अर्थ 'अतिशयेन' (पूर्णरूप से) किया है। मल्लि० ने इसका 'साकल्येन' अर्थ दिया है। देखिए ऋतु० I. २५.।

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः०=इस सम्बन्ध में देखिए—'स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः पिबन्ति नाम्भः स्वयमेव नद्यः । धाराधरो वर्षति नात्महेतोः परोपकाराय सतां विभूतयः ॥' किरात० VII. २८ 'सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम् ।' अभि० शाकु०—II. १७. 'आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः'।

इस श्लोक में शब्द अर्थ का अनुकरण करते हैं और पढ़ते हुए हमें वायु का बहना तथा अग्नि के भीषण प्रकोप की स्पष्ट अनुभूति होती है।

पहले पाद में 'छेकानुप्रास' अलंकार और दूसरे में 'वृत्त्यनुप्रास' है। चौथे पाद में 'अर्थान्तरन्यास' होने से इन सब की संसृष्टि है वर्णों की समता को अनुप्रास कहते हैं। समता का अर्थ एक या अनेक वर्णों का एक अथवा एक से अधिक वार आना है। इसे आवृत्ति भी कहते हैं। अंग्रेजी में इस अलंकार को Alliteration कहते हैं ॥५५॥

ये [1]संरम्भोत्पतनरभसाः [2]स्वाङ्गभङ्गाय तस्मि-
[3]न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा [4]लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टि[5]पातावकीर्णान्-
के[6] वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥ ५६॥

अन्वयः—तस्मिन् (हिमालये) संरम्भोत्पतन-रभसाः ये शरभाः मुक्ताध्वानम् भवन्तम् सपदि स्वाङ्गभङ्गाय लंघयेयुः तान् (शरभान्) तुमुल-करकावृष्टि-पातावकीर्णान् कुर्वीथाः। निष्फलारम्भ-यत्नाः के वा परिभव-पदं न स्युः ॥५६॥

पदार्थः—तस्मिन्=उस (हिमालय) में। संरभोत्पतनरभसाः=क्रोध से उछलने के वेगवाले। ये शरभाः= जो आठ टागोंवाले जन्तु-विशेष। मुक्ताध्वानम्=रास्ता छोड़ देनेवाले। भवन्तम्=तुम पर। सपदि=सहसा, तत्काल। स्वाङ्गभङ्गाय=अपने (ही) अङ्गों के नाश के लिए। लङ्घयेयुः=आक्रमण करें। तान्=उन (शरभों) को। तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्=जोर की ओलों की वर्षा गिराकर तितर-बितर। कुर्वीथाः=कर देना। निष्फलारम्भयत्नाः=व्यर्थ के कामों के लिए प्रयत्न करनेवाले। के=कान। वा=सचमुच, निश्चय से। परिभवपदम्=तिरस्कार के पात्र। न स्युः=न हों ॥५६॥

भाषानुवादः—वहां (हिमालय में) क्रोधपूर्वक वेग से उछलनेवाले जो शरभ अपने (ही) अङ्गों के विनाश के लिए (उनके) मार्ग से हटे हुए तुम पर सहसा आक्रमण करें, (उनको) तुम जोर की ओलों की वर्षा गिराकर तितर-बितर कर देना। व्यर्थ के कार्यों के लिए प्रयत्न (करने) वाले कौन (व्यक्ति) सचमुच तिरस्कार के पात्र नहीं बनते ॥५६॥

व्याकरणम्—संरभोत्पतनरभसाः=संरम्भेण (सम्+√रभ्+घञ् भावे)

१—त्वां मुक्ताध्वनिमसहनाः, विल्स०। २—कायभङ्गाय। ३—दर्पोत्सकादुपरि, विल्स०। ४—लङ्घयिष्यन्त्यलंध्यम्, विल्स०। ५—हासा, वल्ल० विल्स० सारो० स० वि०। ६—केषां० का० पा०।

उत्पतने (उद्+√पत्+ल्युट् भावे) रभसो येषां ते (ब० ब्री०)। मुक्ताध्वानम् = मुक्तः अध्वा येन स मुक्ताध्वा तं मुक्ताध्वानम् (ब० ब्री०)। भवन्तम् = भवत् का द्वि० एक०। सपदि = अव्यय। स्वाङ्गभङ्गाय = स्वस्याङ्गानां भङ्गः स्वाङ्गभङ्गः तस्मै। लङ्घयेयुः = √लङ्घ्, [चुरा० उभ०] (आक्रमण करना) विधिलिङ्, प्र० पु० एक०। संभावनायां लिङ्। तुमुलकरकावृष्टि० = तुमुलाः याः करकास्तासां वृष्टिस्तस्याः पातेनावकीर्णान्। अवकीर्ण अव्+√कृ [तु० प०] +न (क्त)। कुर्वीथाः = √कृ, [तना० उभ०] (करना), म० पु० एक०, कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्म०। निष्फलारम्भयत्नाः = आरम्यन्त इत्यारम्भाः (आ +√रभ् भ्वा० आ०, +अ) आरम्भेषु यत्नः, आरम्भयत्नः निष्फलः आरम्भयत्नो येषां ते (बहुव्री०)। स्युः = √अस् [अ० प०] विधिलिङ् प्र० पु० बहु०। परिभव० = परि०+√भू+अप् भावे परिभवस्य पदम्। (ष० तत्पु०) 'के' का विधेयविशेषण विधेयप्राधान्यात् नपुंसकलिंगता ॥५६॥

विशेषः—मुक्ताध्वानम् = सारो० और वल्लभ ने इसका और ही अर्थ किया है—मुक्तम् अध्वानं (न+ध्वानम्) अगर्जितं येन तम् अर्थात् 'कृतगर्जितम्' (मुक्त+अ+ध्वानम्) = खूब गरजते हुए। यह अर्थ ठीक तो प्रतीत होता है परन्तु शब्द का तोड़-मरोड़ ही है।

करकाः = 'वर्षोपलस्तु करका' इत्यमरः, यह शब्द स्त्री० तथा पुं० भी है। 'वर्षोपलस्तु करका करकोऽपि दृश्यते' इति रुद्रः। कुछ एक टीकाकारों ने करक को पुंल्लिग ही मान कर 'करकावृष्टि०' का 'करकाणाम् आ समन्तात् वृष्टिः' यों विग्रह किया है, पर यह उनका भ्रम ही है, क्योंकि जैसा कि ऊपर रुद्र का प्रमाण दे रखा है, करका शब्द स्त्रीलिंग भी है।

लङ्घयेयुः = आक्रमण करें। देखिए—अभि० शा० VII 'एषा खलु केसरिणी त्वां लङ्घयति'।

शरभाः = यह हिमालय में रहनेवाला आठ टांगोंवाला मृग (जन्तु) विशेष होता है। यह बड़ा भयानक होता है। कहते हैं कि यह सिंह को भी मार डालता है। देखिए—महाभारत—'अष्टपादः शरभः सिंहघाती'। मल्लि० ने इसे एकदे प्रकार का मृग ही माना है और इस पर विश्व कोष का 'शरभः शलभे चाष्टाप प्रोक्तो मृगान्तरे' प्रमाण दिया है। वास्तव में आठ पैरोंवाला कोई पशु हिमालय में प्राप्त नहीं हुआ है।

स्वाङ्गभङ्गाय =मेघ शरभों से बहुत ऊंचा है--वे उसपर आक्रमण करने के लिए जोर से उछलेंगे, मेघ तक तो वे पहुँच नहीं सकेंगे, प्रत्युत उलटे जमीन में जोर से गिरकर उनके अपने ही पैर टूटेंगे।

के वा =मल्लि० ने 'वा' का कोई अर्थ नहीं किया है। 'वा' केबहुत से अर्थ होते हैं। यहां इसका 'निश्चय से' अर्थ है। देखिए—अमरकोश 'स्युरेवं त पुनर्वे वेत्यवधारणवाचकाः'। का० पा० ने 'के वा' के स्थान में 'केषाम्' पाठ दिया है और 'निष्फलारम्भ-यत्नाः' में बहुव्री० न मानकर तत्पुरुष ही माना ह, परन्तु इस पाठ में अर्थ में कोई भेद नहीं आता ।।५६।।

विल्सन (Wilson) ने इस श्लोक के पहले तीनों ही पादों में बहुत अधिक पाठान्तर दिया है। उसके मतानुसार यह श्लोक यों है:—

त्वां मुक्तध्वनिमसहनाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
दर्पोत्सेकादुपरि शरभा लंघयेयुरलंघ्यम्।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिहासावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥

अर्थ भेद–(दूसरों को) न सहन करनेवाले शरभ अभिमान में फूलकर यदि गर्जन छोड़े हुए (अर्थात् चुप चाप जाते हुए) तुम्हारे ऊपर आक्रमण करें, जो कि तुम (उनके) आक्रमण किए जाने योग्य न हो, तो तुम उनको जोर से ओलों की वर्षा रूपी हँसी (मात्र) से तितर–बितर कर देना।

इसमें श्वेत ओलों को बादल की हँसी माना गया है--उनका तड़–तड़ शब्द हँसी का शब्द है। विल्सन के अनुसार सारो० वल्लभ और सुमति० ने भी 'हासा-वकीर्णान्' पाठ माना है। करका को हास मानने के अर्थ में अधिक स्वारस्य है। करका हिम ही है और हिम का हास से साम्य प्रसिद्ध ही है। दोनों सफेद होते हैं।

इस श्लोक में 'अनुप्रास' और अन्तिम पाद में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार ह ।।

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत्सिद्धैरु[1]पचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्व[2]मुद्धूतपापाः
[3]कल्पन्तेऽस्य स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५७॥

१—उपहित, उपहृत। का० पा०। २—दूरम्, विल्स० सारो०, म० सिं०। ३—संकल्पन्ते, सारो० सु० वि०, म० सिं०, कल्पिष्यन्ते मल्लि०।

अन्वयः—तत्र (हिमालये) दृषदि व्यक्तं शश्वत् सिद्धैः उपचित-बलिम् अर्धेन्दुमौलेः चरण-न्यासम् भक्तिनम्रः (सन्) परीयाः, यस्मिन् (पादन्यासे) दृष्टे (सति) उद्धूतपापाः श्रद्दधानाः करणविगमात् ऊर्ध्वम् स्थिर-गण-पद-प्राप्तये कल्पिष्यन्ते ॥५७॥

पदार्थः—दृषदि=(किसी) शिला पर। व्यक्तम्=स्पष्ट, प्रत्यक्ष दीखने वाले। शश्वत्=सदा (अव्यय)। सिद्धैः=सिद्धों के द्वारा। उपचितबलिम्=जिसकी पूजा की गई है ऐसे। अर्धेन्दुमौलेः=शिवजी के। चरणन्यासम्=रखे गए पैर के चिह्न को, पदचिह्न को। भक्तिनम्रः=भक्ति से झुकते हुए। परीयाः=प्रदक्षिणा करना। यस्मिन्=जिस (पैर के चिह्न) के। दृष्टे=देखने पर। उद्धूतपापाः=पापों से उन्मुक्त हुए। श्रद्दधानाः=श्रद्धालु (लोग) भक्तजन। करणविगमादूर्ध्वम्=शरीर छूटने के बाद। अस्य स्थिर-पद-प्राप्तये=शिव जी के गणों के शाश्वत स्थान की प्राप्ति के लिए। कल्पन्ते=समर्थ होते हैं ॥५७॥

भाषानुवादः—वहाँ (हिमालय में) शिला पर स्पष्ट (दिखाई देनेवाले) शिव जी के चरण-निक्षेप (पैर के चिह्न) की भक्ति से नम्र हुआ परिक्रमा करना, जिसकी सिद्ध पुरुष निरन्तर पूजा किया करते हैं और जिसका दर्शन होने पर पापों से मुक्त (हुए) श्रद्धालु पुरुष शरीर छूट जाने के बाद शिवजी के गणों का शाश्वत पद प्राप्त करने के लिए समर्थ हो जाते हैं ॥५७॥

व्याकरणम्—दृषदि=दृषद् की स० एक०। व्यक्तम्=√व्यञ्ज्, रुधा० प०+क्त। शश्वत्=(अव्यय)। उपचितबलिम्=उपचितः (उप+√चि, तना+क्त कर्मणि) कृतः बलिः=पूजा ('बलिः पूजोपहारयोः' इति यादवः) यस्य तम् (बहुव्री०) अर्धेन्दुमौलेः=अर्धश्चासाविन्दुश्चेत्यर्धेन्दुः स मौलौ यस्य (बहुव्री०); चरणन्यासम्=चरणस्य न्यासः चरणन्यासस्तम् (ष०तत्पु०) न्यास-नि+√अस् [दि० प०], फेंकना+घञ् भावे। भक्तिनम्रः=भक्त्या नम्रः (तृ० तत्पु०)। परीयाः=परि√इ, [अ० प०], विधिलिङ्, म० पु० एक०। यस्मिन् दृष्टे=सति सप्तमी (Locative Absolute)। उद्धूतपापाः=उद्धूतानि पापानि येषाम् (ब० व्री०), उद्धूत-उद्+√धू+क्त कर्मणि। श्रद्दधानाः=श्रत्+√धा+शानच् कर्त्तरि। करणविगमात्=करणस्य(शरीरस्य) विगमस्तस्मात्। करण-क्रियते अनेन इति√कृ+ल्युट्। ऊर्ध्वम्=(अव्यय)। स्थिरगणपदप्राप्तये=स्थिरं गणानां पदं तस्य या प्राप्तिस्तस्यै। कल्पन्ते=√क्लृप्, (भ्वा० आ०) (समर्थ होना) लट् प्र० पु० बहु० ॥५७॥

विशेषः—सिद्धैः=यहां सिद्ध शब्द से किन्नर न लेकर वे लोग लिए गए हैं जो योगाभ्यास में लीन हैं और साधना के द्वारा सिद्धि तथा अलौकिक शक्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण उन्हें योगी और सिद्धपुरुष भी कहते हैं। हिमालय ऐसे सिद्धों अथवा योगियों के लिए अभीष्ट स्थान है।

उपचितबलिम्=मल्लि० और विल्सन द्वारा दिए गए इस पाठ के स्थान में अन्य टीकाकारों ने 'उपहृतबलिम्' दिया है, जिसका अर्थ "(जिस चरणन्यास को) बलि चढ़ा दी गई है" है। बलि का अर्थ यहां पूजा ही है, अतः दोनों पाठों में विशेष अर्थ-भेद कोई नहीं।

अर्धेन्दुमौलेः=शिव जी, जिनके मस्तक पर अर्धचन्द्र है। विशेष विवरण के लिए पूर्वमेघ श्लोक ४५ का विशेष भाग देखिए।

चरणन्यासम्=शिव जी के पदचिह्नवाले स्थान को जिसका कि इस श्लोक में संकेत है, शम्भुरहस्य में 'श्री चरणन्यास" कहा गया है। विल्सन (Wilson) के अनुसार सम्भवतः इसका हरिद्वार में किसी छोटी पहाड़ी से सम्बन्ध हो, जिसके कारण 'हर की पैड़ी' (शिव का चरण) ऐसी (किंवदन्ती) बनी हुई है। किन्तु प्रकरण के अनुसार यह स्थान बर्फीला होना चाहिए जहां चमरी गायें तथा देव-दारु वृक्ष हैं। हरिद्वार ऐसा स्थान नहीं है।

परीयाः=इष्ट देव या देवता अथवा पूजार्ह व्यक्ति की प्रदक्षिणा करने की प्रथा भारत में आदिकाल से चली आ रही है। इससे अत्यधिक आदर सूचित होता है और यह धार्मिक कर्म बन गया है। देखिए—'प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता' रघु० II. २१. और देखिए—'प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः' रघु० I. ७६।

कल्पन्ते—मल्लि० 'कल्पिष्यन्ते पाठ मानता है परन्तु इसकी अपेक्षा बल्लभ या विल्सन (Wilson) द्वारा दिया गया 'कल्पन्तेऽस्य' यह पाठ अच्छा प्रतीत होता है। इस पाठ में 'अस्य' का अर्थ "शिव जी के" है। किन्तु वर्तमान काल मानने के लिए विल्सन (Wilson) को सारो० और म० सिं० की तरह द्वितीय पाद में आए 'ऊर्ध्वम्' के स्थान में 'दूरम्' पाठ मानना पड़ा है। 'ऊर्ध्वम्' वाले पाठ में 'शरीर छूटने के बाद ही स्थिर-गण-पद-प्राप्ति' के योग्य हो सकेंगे। यह भविष्यकालीन प्रयोग ही ठीक है। 'कल्पिष्यन्ते' के स्थान में सारो० म० सिं० तथा सुमति० ने सङ्कल्पन्ते' पाठ दिया है, परन्तु सम् पूर्वक √कल्प् का अर्थ प्रायः निश्चय करना होता है समर्थ होना नहीं ॥५७॥

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
[1]संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
[2]निर्ह्लादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु[3] ध्वनिः स्या–
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः[4] ॥५८॥

अन्वयः—अनिलैः पूर्यमाणाः कीचकाः मधुरं शब्दायन्ते; संरक्ताभिः किन्नरीभिः त्रिपुर-विजयः गीयते; कन्दरेषु ते निर्ह्लादः मुरजे ध्वनिः इव स्यात् (चेत्, र्तांह) तत्र पशुपतेः समग्रः संगीतार्थः भावी ननु ॥५८॥

पदार्थः—अनिलैः पूर्यमाणाः=वायु से भरे हुए। कीचकाः=बाँस । मधुरं शब्दायन्ते=मीठा शब्द करते हैं। संरक्ताभिः=प्रेमभरी अर्थात् प्रेमभरे कण्ठवाली। किन्नरीभिः=किन्नरियों द्वारा। त्रिपुरविजयः=(महादेव द्वारा) त्रिपुरासुर का विजय। गीयते=गाया जाता है। तत्र=वहाँ (चरण चिह्न के पास)। कन्दरेषु=गुफाओं में । ते निर्ह्लादः=तेरा शब्द। मुरजे=मृदङ्ग पर। ध्वनिः इव=शब्द के समान। पशुपतेः=शिवजी का। समग्रः=सम्पूर्ण । संगीतार्थः= संगीत की वस्तु, उपकरण। भावी=होगा। ननु=सचमुच ॥५८॥

भाषानुवादः—वायु से भरे हुए बाँस मधुर शब्द कर रहे हैं; प्रेमभरी किन्नरियां (महादेव द्वारा) त्रिपुरासुर के विजय का गान गा रही हैं; (यदि) कन्दराओं में तुम्हारा शब्द मृदङ्ग की ध्वनि के समान हो जाय (तो) सचमुच महादेव के संगीत की सब वस्तुएं जुट ज यँ ॥५८॥

व्याकरणम्—पूर्यमाणाः=√पृ (पूर), (जुहो० प०)+शानच्, प्र० बहु०। मधुरम्—क्रिया–विशे०। शब्दायन्ते=शब्द का नाम धातु जो 'क्यङ्' प्रत्यय जोड़ने से बना है। लट् प्र० पु० बहु०। शब्द, वैर, कलह आदि के साथ 'क्यङ्' प्रत्यय नाम–धातु बनाने के लिए जोड़ा जाता है। संरक्ताभिः+सम्+√रञ्ज्, (भ्वा० उभ०, रंगना)+त (क्त)+टाप् (स्त्री०), तृ० बहु०। त्रिपुरविजयः= त्रीणि पुराणि यस्य स त्रिपुरः (बहुव्री०) अथवा त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् (समाहारद्विगु) तस्य विजयः। गीयते√ गै, (भ्वा० प० गाना) कर्मणि लट्, प्र० पु एक०। निर्ह्लादः=निर्+√ह्लाद् (भ्वा० आ०, शब्द करना)+अ (घञ्)। पशुपतेः=पशूनां पतिः पशुपतिस्तस्य (ष० तत्पु०)। समग्रः=अग्रेण

१–संसक्ताभिः मल्लि०। २–निर्ह्लादी, का० पा०। ३–कन्दरीपु वल्ल० म० सिं०। ४–समस्तः, का० पा०।

सहितः। संगीतार्थः=संगीतस्य अर्थः=वस्तु (ष० तत्पु०)। भावी=भविष्यति इति, √भू, (भ्वा० प०)+इन् (णिनि), भविष्यदर्थे ॥५८॥

विशेषः—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः०=अमरकोश–'कीचका वेणवस्ते स्युः ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' के अनुसार 'कीचक' उस बाँस को कहते हैं, जिसमें वायु भरा हुआ हो और जो वायु भर जाने से शब्द करते हों। इस प्रकार 'कीचक' शब्द से ही वायु से भरे जाने पर शब्द करना अर्थ निकल जाने से 'कीचकाः' का "अनिलैः पूर्यमाणाः शब्दायन्ते" यह विशेषण व्यर्थ हो जाता है, इसलिए प्रकृत में कीचक शब्द अपने भीतर के विशेषणत्व को छोड़कर केवल विशेष्यत्व का अर्थात् बाँस सामान्य का बोधक समझा जाता है। देखिए–पूर्वमेघ श्लोक २ के विशेष में 'परिणतगज–' पर विशेष। इसी प्रकार के वर्णन के लिए देखिए–रघु० II. १२—'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्'। और देखिए—कुमा० I. ८—'यः पूरयन्कीचकरंध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।'

संरक्ताभिः=इसका मल्लि० ने पाठान्तर 'संसक्ताभिः' दिया है और उसका अर्थ 'सम्मिलित हुई अथवा वंश-वाद्यों के बजाने में लगी हुई' किया है। वास्तव में मीठी-मीठी बांसुरी (वंश) तो वायु ही बजा रहा था, किन्नरियां नहीं। मीठी बांसुरी के साथ गान भी मीठा ही होना चाहिए और वह किन्नरियां कर रहीं हैं, इसलिए 'संरक्ताभिः' (=प्रेमभरी अर्थात् मीठे कण्ठ वाली) वाला पाठ ही ठीक है।

किन्नरीभिः=किन्नरों की स्त्रियों द्वारा। किन्नर 'नरदेवों' की श्रेणी है। कुत्सित आकृति के कारण इन्हें किन्नर कहा जाता है (कुत्सिता नराः किन्नराः)। ये मनुष्य–देहधारी हैं और इनके सिर घोड़ों के जैसे होते हैं। पहाड़ में इन्हें घुड़मुखे या कनौरे कहते हैं।

त्रिपुरविजयः=त्रिपुर शब्द को यहाँ बहुव्री० समास मानकर तानपुरी वाला (असुर) अर्थात् त्रिपुरासुर लिया जाता है, जिसे महादेव ने मारा था। इसीलिए महादेव को 'त्रिपुरान्तक' भी कहते हैं, परन्तु मल्लि० ने यहाँ समाहारद्विगु मान कर नपुंसक-लिङ्गान्त 'त्रिपुरम्' से व्याख्या की है त्रिपुर का अर्थ तीन नगरों का समाहार (Aggregate) है। यह तीनों सोना चाँदी और लोहे के नगर क्रमशः आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर राक्षसों के लिए 'मय' द्वारा बनाए गए थे। कइयों के विचार में यह तीनों नगर विद्युन्माली, रक्ताक्ष और हिरण्याक्ष–तीनों राक्षसों के प्रधान पुरुषों के लिए बनाए गए थे।

निर्ह्लादः =इसका पाठान्तर निह्लादी (शब्द करनेवाला) है, जो ध्वनि का विशेषण बनता है, परन्तु 'निर्ह्लादः' 'वाला पाठ अच्छा है, क्योंकि निर्ह्लाद और ध्वनि दोनों पर्याय-शब्द हैं । देखिए—अमरकोश 'शब्दे निनाद-ध्वनि-निर्ह्लाद-नाद-निस्वनाः' । एक ही अर्थ के वाचक दो शब्द आ जाने के कारण एक का अर्थ प्रतिध्वनि करने से अवाचकत्व दोष है, क्योंकि ध्वनि का अर्थ प्रतिध्वनि नहीं होता ।

संगीतार्थः=सारो० में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है–'तथा वाद-नृत्यस्यार्थः=समुदायः' । इसका यह अर्थ किया जा सकता है 'संगीत की सामग्री' । संगीत का शाब्दिक अर्थ वह गायन है, जिसके साथ वादन तथा नृत्य भी हो, परन्तु इस श्लोक में नृत्य का उल्लेख ही नहीं है, अत एव मल्लि० ने पशुपते : = 'शिवस्य नृत्ये इति शेषः' लिख कर नृत्य का अध्याहार किया है ।

इस श्लोक में दिए गए शब्द अर्थ का अनुकरण करते हैं और पढ़ते हुए हमें यही प्रतीत होता है कि मानो हमारे सामने प्रकृति की नाट्यशाला (Theatre) का द्वार खुला है और हम उसके मधुर संगीत का रस ले रहे हों ।

इस श्लोक में 'यदि' शब्द के बल से सम्बन्ध जोड़े जाने के कारण 'असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार है और वह उत्प्रेक्षा का कारण बनता है यदि उत्प्रेक्षा का वाचक यहाँ 'ननु' शब्द माना जाय तो–अर्थात् मानो जैसे सारी संगीत-सामग्री जुट गई हो ॥५८॥

प्रालेयाद्रेरुपतटमति[1]क्रम्य तांस्तान्विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम् ।
तेनोदीचीं दिशमनुसरे[2]स्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनिय[3]मनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥५९॥

अन्वयः—प्रालेयाद्रेः उपतटम् तान् तान् विशेषान् अतिक्रम्य यत् भृगु-पति-यशोवर्त्म हंसद्वारं क्रौञ्चरन्ध्रम् (अस्ति) तेन बलि-नियमने अभ्युद्यतस्य विष्णोः श्यामः पादः इव तिर्यगायामशोभी (सन्) उदीचीम् दिशम् अनुसरेः ॥५९॥

१—उपक्रम्य । २—अनुपतेः का० पा०, । ३—बलिनियमनेऽभ्यु० का० पा०, नियमनायो० ।

पदार्थः—प्रालेयाद्रेः=हिमालय पर्वत के। उपतटम्=तटों के समीप, ढलानों के पास। तान् तान् विशेषान्=उन-उन (विभिन्न) देखने योग्य अच्छी अच्छी वस्तुओं को। अतिक्रम्य=लांघ कर, देखते हुए पार करके। यत्=जो। हंसद्वारम्=हंसों का (मानसरोवर) जाने का रास्ता। भृगुपति-यशोवर्त्म=परशुराम के यश का मार्ग। क्रौंचरन्ध्रम=क्रौञ्च पर्वत का छिद्र (विवर) है। तेन=उस (क्रौञ्च बिल) से। बलिनियमने=बलि को दबाने (वश में करने) में। अभ्युद्यतस्य = उद्यत, उठे हुए, लगे हुए। विष्णोः=भगवान् विष्णु के। श्यामः पादः इव=काले रंग के पैर के समान। तिर्यगायामशोभी=टेढ़ा-लम्बा होने से सुन्दर प्रतीत होता हुआ। उदीचीं दिशम्=उत्तर दिशा को। अनुसरेः=चले जाना ॥५९॥

भाषानुवादः—हिमालय की ढलानों के पास उन-उन देखने योग्य वस्तुओं को पार करके परशुराम का यश का मार्ग एवं (मानसरोवर जाने के लिए) हंसों का द्वार-रूप क्रौञ्च पर्वत का जो छिद्र है, उससे होकर (तुम) बलि को दबाने में लगे हुए विष्णु भगवान् के साँवले पैर की जैसी टेढ़ी लम्बाई से शोभा प्राप्त करते हुए उत्तर दिशा को चले जाना ॥५९॥

व्याकरणम्—प्रालेयाद्रेः=प्रालेयस्य (हिमस्य) अद्रेः (पर्वतस्य)। ष० तत्पु०। प्रालेय—प्रलयशब्दात् अण्, यादेः लस्य इयादेशश्च। उपतटम्=तटानां समीपे इति उपतटम् समीप अर्थ में अव्ययी० समास। तान् तान् विशेषान्=वीप्सायां द्विर्वचनम्। 'विशेष' से अभिप्राय कनखल के पास गंगा से है' शारदा० राय०। अतिक्रम्य=अति+√क्रम्, (भ्वा० उभयप०, चलना)+य (ल्यप्)। भृगुपतियशोवर्त्म=भृगुपतेर्यशसः वर्त्म (ष० तत्पु०)। हंसद्वारम्=हंसानां द्वारम् (ष० तत्पु०)। क्रौञ्चरन्ध्रम्=क्रौंचस्य (अद्रेः) रन्ध्रम् (ष० तत्पु०)। बलि-नियमने=बलेर्नियमने (ष० तत्पु०)। नियमन—नि+√यम्+अप् भावे। अभ्युद्यतस्य=अभि+उत्+यम् (भ्वा० प०, वश में करना)+त (क्त), ष० एक०। विष्णोः=वेवेष्टि (व्याप्नोति) जगदिति। विष्णु की व्युत्पत्ति √विष, (जुहो० प०) उणादि प्रत्यय 'नु' से हुई है। तिर्यगायामशोभी=तिर्यक् तिरश्चीनः यः आयामः (आ+√यम्+घञ् भावे) दैर्घ्यम् तेन शोभते इति तिर्यगायामशोभी। √शुभ्, (भ्वा० आ०)+इन् (णिनि)। उदीचीम—उद+√अञ्च् (जाना)

+क्विन्, उदक्+ङीप् स्त्रियाम्, उदीची, ताम्। अनुसरेः=अनु+√सृ, (भ्वा० प०), विधिलिङ् म० पु० एक० ॥५९॥

विशेषः—क्रौञ्चरन्ध्रम्, हंसद्वारम्, भृगुपतियशोवर्त्म=यह एक बड़ा छेद है, जिसे कहते हैं कि क्रौञ्चपर्वत में परशुराम ने शिवजी से धनुर्विद्या प्राप्त करने के अनन्तर कैलास से दक्षिण की ओर जाने के विचार से बाण द्वारा क्रौञ्च का भेदन कर अपना रास्ता बनाने के लिए किया था। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि जब परशुराम शिवजी से धनुर्वेद सीखते थे, तो एक दिन शिवपुत्र स्कन्द के साथ प्रतियोगिता में उन्होंने क्रौञ्च पर्वत को एक तीक्ष्ण तीर मारकर बींध डाला, जिससे उस पर्वत में एक बड़ा लम्बा विवर (छिद्र) बन गया। इस विवर को बनाने से ही परशुराम का यश सारे विश्व में फैल गया। यह भी कहा जाता है कि इसी विवर से होकर हंस मानसरोवर को जाया करते हैं। इसे आजकल 'नीतिमाणा' दर्रा कहते हैं, जो गढ़वाल और कमायूँ की सीमा-संधि में हैं। यहाँ से तिब्बत जाया जाता है। परशुराम को भृगुपति भी कहते हैं, क्योंकि वे भृगु के वंशज थे। भृगुवंश में प्रतिष्ठित होने से उन्हें 'भृगुपति' इस तरह कहते हैं, जिस तरह रघुवंश में प्रसिद्ध राम को 'रघुपति'। परशुराम को भृगुवंश में जन्म लेने से भार्गव भी कहते हैं। क्रौञ्च का वर्णन हरिवंश पुराण में भी देखिए।

बलिनियमनाभ्युद्यतस्य=विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र बलि एक शक्तिशाली राक्षस-राज था। वह बड़ा अभिमानी था। उसे स्वर्ग से वञ्चित रखने तथा दण्ड देने के लिए विष्णु ने वामन-अवतार धारण करके अपने पैर को उसके सिर पर रख कर उसे पाताल में धकेल दिया था ॥५९॥

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्प[1]णस्यातिथिः स्याः।
[2]शृङ्गोच्छ्रायैः[3] कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः [4]प्रतिदिशमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥६०॥

अन्वयः—**ऊर्ध्वम् च गत्वा (त्वम्) दशमुख-भुजोच्छ्वासित-प्रस्थ-सन्धेः, त्रिदशवनिता-दर्पणस्य कैलासस्य अतिथिः स्याः, यः कुमुद-विशदैः शृङ्गोच्छ्रायैः खम् वितत्य प्रतिदिशम् राशीभूतः त्र्यम्बकस्य अट्टहासः इव स्थितः (अस्ति)॥६०॥**

१—दर्शनस्य। २—तुङ्गोच्छ्रायैः, विल्स०। ३—कुसुम। ४—प्रतिदिनम् मल्लि०।

पदार्थः——ऊर्ध्वम् =ऊपर । गत्वा= राक जदशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थ-सन्धेः कैलासस्य=कैलास का, जिसकी चोटियों की सन्धियों (जोड़ों) को रावण ने (अपनी) भुजाओं से ढीला (उच्छ्वासित) कर दिया था। त्रिदश-वनितादर्पणस्य=जो देवताओं की स्त्रियों का दर्पण (आइना) है। अतिथिः स्याः=अतिथि (पाहुना) बनना। यः=जो(कैलास)। कुमुदविशदैः=कमल के समान श्वेत। शृङ्गोच्छ्रायैः=चोटियों की ऊंचाई से, ऊँची २ चोटियों से। खम्=आकाश को । वितत्य घेर कर, व्याप्त करके। प्रतिदिशम्=नित्य-प्रति। राशीभूतः=इकट्ठा हुआ। त्र्यम्बकस्य=शिवजी का। अट्टहासः इव=जोर की हँसी सी, ठहाका-सा। स्थितः=स्थित है ॥६०॥

भाषानुवादः——ऊपर जाकर (तुम) कैलास का अतिथि बनना, जिसकी चोटियों के जोड़ों को रावण की भुजाओं ने ढीला कर दिया था, जो देवाङ्गनाओं का दर्पण है तथा जो कुमुद के समान श्वेत ऊंची चोटियों से आकाश में फैल कर ऐसा खड़ा हुआ है मानो शिव जी का चारों ओर इकट्ठा किया हुआ अट्टहास (ठहाका) हो ॥६०॥

व्याकरणम्——ऊर्ध्वम्——अव्यय। दशमुखभुजोच्छ्वासित०=दशमुखस्य (दश मुखानि यस्य स दशमुखः तस्य) भुजैरुच्छ्वासिताः प्रस्थानां (सानूनां) संधयो यस्य तस्य (ब० व्री०)। उच्छ्वासित–उत्+√श्वस्, (अदा० प०,) सांस लेना)+णिच्+त (क्त)। प्रस्थः=प्र+√स्था (भ्वा० प०)+अ। त्रिदशवनितादर्पणस्य=त्रिदशानां वनिताः त्रिदशवनिताः तासां दर्पणस्य। त्रिदश——तिस्रो दशाः (बाल-कुमार-युवावस्थाः) येषां ते त्रिदशाः (देवताओं को बुढ़ापा नहीं आता)। भानुजी के अनुसार देवताओं में बाल्य और कौमार अवस्था भी नहीं होतीं, उनकी तो सदा यौवन-अवस्था ही होती है। अतः 'त्रिदश' की व्युत्पत्ति,–'त्रयः=तृतीया दशा येषाम् ते' त्रिदशाः। उनके मतानुसार 'त्रयः' यह संख्यावाचक शब्द पूरणार्थ अर्थात् 'तृतीय' का बोधक है। मल्लि० त्रिर्दश परिमाणमेषामस्तीति' तीन वार दश अर्थात् ३० वर्ष की वयोवस्थावाले यों व्युत्पत्ति करते हैं। देवता सदा ३० वर्ष के युवा ही रहते हैं। कैलासस्य=कैलास का ष० एक०। कैलास की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है:–(१)के जले लासो लसनमस्य केलासः स्फटिकः तस्यायं कैलासः।

(२) केलीनां समूहः कैलम् तस्य समूहः इत्यण् (अ) तेनास्यात्र । (३) √ केल, (भ्वा० प०, चलना)+अ+आस्+अ (घञ्), अधिकरणे घञ् । (४) कं=जलम्, इला=भूमिः, केलयोर्जलभूम्योः आस्ते इति । कुमुदविशदैः=कुमुदवद्विशदैः । शृङ्गोच्छ्रायैः=शृङ्गाणामुच्छ्रायैः । खम्=ख का द्वि० एक० । वितत्य=वि+√तन् (तना० उभ०, फैलाना)+य (ल्यप्) । प्रतिदिशम्=दिशायां दिशायां (अव्ययी० स०) । राशीभूतः=अराशिः=राशिः सम्पद्यमानः भूतः इति राशीभूतः । राशि+च्वि+√भू (भ्वा० प०)+त (क्त)। त्र्यम्बकस्य=(१) त्रीणि अम्बकानि (नेत्राणि) यस्य तस्य अथवा (२) त्रयाणां लोकानामम्बकः पिता । (३) त्रीन्वेदानम्बते शब्दायते । (४) त्रयः अकारोकारमकारा अम्बाः शब्दा वाचका अस्य । (५) तिस्रोऽम्बा द्यौर्भूमिरापो यस्येति महाभारते (भानु जी दीक्षित) । इस प्रकार 'त्र्यम्बक' की भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति की जाती है । स्थितः=√स्था, (भ्वा० प०)+त (क्त), प्र० एक०॥६०॥

विशेष:—दशमुखभुजोच्छ्वासित०=इसमें रावण द्वारा कैलास पर्वत को उठा कर लङ्का में ले जाने की कथा का संकेत है । जब रावण शिव जी की पूजा के लिए नित्य लंका से कैलास आने की अपेक्षा कैलास को ही शिव जी सहित अपनी लङ्का-पुरी में ले जाने की अभिलाषा से नीचे से अपने कन्धों पर उठाने लगा, तो सारा पर्वत तथा उसमें रहने वाले प्राणी-मात्र डग-मगाने लगे । शिव जी के साथ उस पर्वत पर रहती हुई पार्वती भय के कारण उनसे लिपट गई । उसके भय को दूर करने के लिए शिव जी ने कैलास को नीचे की ओर दबाया, रावण ने शिवजी को कुपित देख कर झट अपने आप को किसी तरह नीचे कुचला जाने से बचा लिया । दबने की पीड़ा से वह जोर से चिल्लाया इसलिए उसका नाम रावण (रु शब्दे-रवीति इति रावणः) पड़ा । दूसरी कथा यह, भी है कि जब रावण कुबेर से लड़ने के लिये कैलास से होकर जा रहा था, तो उसका शिवजी के गणों से झगड़ा हो गया, क्योंकि उस समय पर्वत पर शिव जी पार्वती के साथ बैठे हुए थे, इस लिए गणों ने रावण के वहां से निश्शङ्क होकर जाने पर आपत्ति की । रावण को बड़ा क्रोध चढ़ा और उसने कैलाश को उखाड़ फेंक देना चाहा । इतने में शिवजी उसे धर दबाने लगे थे कि वह बच निकला, देखिए—प्रिय० I. २ 'कैलासश्रियमिव दशमुखोन्मूलनक्षोभनिपतिताम्;' कैलासाद्रावदस्ते परिचलति गणेषूल्लसत्कौतुकेषु । क्रुद्धऽप्याश्लिष्ट-

मूर्तिर्भयघनमुमया पातु तुष्टः शिवो नः ॥' और देखिए—शिशु० I. ५० 'समुत्क्षिपन्त्यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः । त्रसत्तुषाराद्रिसुता-ससंभ्रम–स्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥' यह कथा रामा० के उत्तर का० सर्ग XVI. में वर्णित है ।

त्रिदशवनितादर्पणस्य = कैलास पर्वत स्फटिक (बिल्लौर) अथवा चाँदी का होने से देवताओं की स्त्रियों का दर्पण ह—मल्लि० ।

ऊर्ध्वम् = ऊपर (अव्यय); यह शब्द पूर्वमेघ के श्लो० ५७ में आ चुका है। देखिए—'करणविगमादूर्ध्वम्' ।

राशीभूताट्टहासः = सस्कृत के कवि 'हास' को श्वेत वर्ण का समझते हैं । संभवतः इसका कारण यह है कि हँसने में श्वेत दाँत प्रकट होते हैं । उन दांतों के योग (मेल) से 'हास' को भी सफेद समझा गया है । जब 'हास' श्वेत माना गया तो अट्टहास (महाहास = ठहाका) भी सफेद ही हुआ । यहां कैलास के श्वेत वर्ण का होने से उसे शिवजी का चारों ओर इकट्ठा हुआ अट्टहास का ढेर-सा समझा गया है। देखिए—दशकु० पूर्व पी० का प्रारम्भ—'गिरिशाट्टहास-कैलास-काश-नीकाश-मूर्त्या ।' ओर देखिए—पूर्वमेघ ५२ 'या (गंगा) विहस्येव फेनैः' ।

भुजोच्छ्वासित—यही समास उत्तरमेघ श्लो० ९ में भी आया है। देखिए—'प्रियतमभुजोच्छ्वासितालिङ्गितानाम् ।' 'उच्छ्वसित' के प्रयोग के लिए पूर्वमेघ श्लोक ४४ देखिए—'त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः।'

शृङ्गोच्छ्रायैः—विल्सन (Wilson) ने इस के स्थान में 'तुङ्गोचछ्रयैः' यह पाठ दिया है, किन्तु 'शृङ्गोच्छ्रायैः' पाठ ठीक है, क्योंकि उच्छ्राय का अर्थ औन्नत्य होता है, अतः तुङ्ग (उन्नत) के साथ 'शृङ्ग' ही ठीक बैठता है।

प्रतिदिशम् = इसके स्थान में मल्लिनाथ आदि ने 'प्रतिदिनम्' पाठ दिया है, इसके अनुसार कैलास के केवल उत्तर दिशा में होने से उत्तर में 'इकटठा आ अट्टहास' अर्थ भी ठीक बैठता है ।

इस श्लोक के दूसरे पाद में 'रूपक' तीसरे में 'उपमा' और चौथे में उत्प्रेक्षा अलंकार हैं॥६०॥

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यःकृत्तद्विरदरदन[1]च्छेदगौरस्य तस्य ।
शोभा[2]मद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री–
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥६१॥

अन्वयः--स्निग्ध-भिन्नाञ्जनाभे त्वयि तटगते (सति) सद्यःकृत्त-द्विरद-रदन-च्छेद-गौरस्य तस्य अद्रेः (कैलासस्य) मेचके वाससि अंस-न्यस्ते सति हलभृतः इव स्तिमित-नयन-प्रेक्षणीयाम् भवित्रीम् शोभाम् उत्पश्यामि ॥६१॥

पदार्थः—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे=पीसे हुए चिकने सुरमे की तरह चमक वाले। त्वयि=तेरे। तटगते (सति)=(कैलाश के) ढलानों पर पहुंचने पर। सद्यःकृत्तद्विरद-रदनच्छेदगौरस्य=ताज़े काटे गए हाथी-दाँत के टुकड़े के समान श्वेत। तस्य अद्रेः=उस पर्वत (कैलास) के। मेचके वाससि=काले कपड़े के। अंसन्यस्ते सति=कन्धे पर रक्खे जाने पर। हलभृतः इव=हल को धारण करनेवाले बलराम की जैसी। स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम्=निश्चल आँखों से देखे जाने योग्य। भवित्रीम्=होनेवाली। शोभाम्=सुन्दरता की। उत्पश्यामि= मैं संभावना करता हू ॥६१॥

भाषानुवादः—पीसे हुए चिकने सुरमे की तरह चमकनेवाला तू जब (उसकी) ढलान पर पहुंचेगा, तो ताजे काटे गए हाथी-दाँत के टुकड़े के समान श्वेत वर्णवाले उस पर्वत (कैलास) की टकटकी से देखने योग्य ऐसी शोभा का होना मैं सोच रहा हूं जैसी कि कन्धे पर काले कपड़े के रखने पर बलराम की (शोभा हुआ करती थी) ॥६१॥

व्याकरणम्--स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे=स्निग्धं भिन्नं(√भिद्+न) च यत् अञ्जनं तस्य आभा इव आभा यस्य तस्मिन् (ब० व्री०)। तट-गते =तटंगते (द्वि० त०) सति सप्तमी। सद्यःकृत्तद्विरदरदन०=सद्यः तत्काल एव कृत्तस्य (√कृत्+त) द्विरदरदनस्य यः छेदः तद्वत् गौरस्य (उपमानकर्मधा०)। द्विरदः=द्वौ रदौ (दन्तौ) यस्य सः। अद्रेः=अद्रि का ष० एक०। मेचके–स० एक०। वाससि=वासस् (नपुं०) की स० एक०। अंसन्यस्ते=अंसे न्यस्ते (स०तत्पु०) वाससि का विशेषण। हलभृतः=हलं बिभर्तीति हलभृत् तस्य। स्तिमितनयनप्रेक्षणीयाम्=स्तिमिताभ्यां नयनाभ्यां (तृ० त०) प्रेक्षणीयाम्। प्रेक्षणीयाम्=प्र+√ईक्ष्, (भ्वा०आ०)+अनीय(अनीयर्),+आ(टाप्)स्त्री०

१--दशन मल्लि०। २--लीलामद्रेः, का० पा० आदि।

द्वि० एक० ; 'शोभाम्' का विशेषण। भवित्रीम् = √भू, (भ्वा० प०) (भव्) + इ + भविष्यदर्थे तृच् + ङीप् द्वि० एक०; 'शोभाम्' का विशेषण। उत्प– श्यामि = उत् + √दृश्, (भ्वा० प०, देखना), लट् उत्तम पु० एक०। यहां दृशे धातु ज्ञानार्थक (अनुमानार्थक) है ॥६१॥

विशेषः—स्निग्धभिन्नाञ्जनाभ = देखिए—ऋतु० II २।

अञ्जनाभे = बादल की पीसे हुए सुरमे तथा चिकने काजल से समानता दिखाई गई है।

हलभृतः = देखिए पूर्वमेघ श्लो० ५१ का 'विशेष' स्तम्भ। बलराम हल को धारण करते थे। यह उनका शस्त्र था। इसी विचार से बलराम को हलभृत्, हलधर, लाङ्गली (लाङ्गल = हल) व सीरपाणि कहते हैं। बलराम गौर वर्ण के थे और वह काले कपड़े पहनते थे, इसलिए श्वेत कैलास के ऊपर स्थित काले बादल को तुलना काले कपड़ों को धारण किए हुए बलराम से की गई है। इससे बलराम के शरीर की विशालता ध्वनित होती है। देखिए गीतगो० I. ६३ 'वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभ हलहति–भीतिमिलितयमुनाभम्। केशव धृतहलधररूप जय जगदीश हरे।'

इस श्लोक में 'अनुप्रास' तथा 'उपमा' अलंकार है ॥६१॥

हित्वा तस्मि[1]न्भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विहरे[2]त्पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं कुरु[3] मणितटारोहणायाग्रयायी ॥६२॥

अन्वयः—तस्मिन् क्रीडा-शैले (कैलासे) शम्भुना भुजगवलयम् हित्वा दत्त-हस्ता (सती), गौरी यदि पादचारेण विहरेत् (तर्हि) अग्रयायी स्तम्भिता-न्तर्जलौघः भङ्गी-भक्त्या विरचित-वपुः (सन्) मणितटारोहणाय सोपान-त्वम् कुरु ॥६२॥

पदार्थः—तस्मिन् क्रीड़ाशैले = उस क्रीड़ा पर्वत (कैलास) पर। भुजगवल-यम् = सांप के कंगन को अर्थात् सांप–रूपी कंगन को। हित्वा = छोड़कर। शंभुना = शिवजी से। दत्तहस्ता = हाथ का सहारा दी गई। गौरी = पार्वती।

१—नीलम्। २—विचरेत्, मल्लि०, सु० वि० आदि। ३—कुरु सुख-पदारोहणायाग्रयायी; व्रज पदसुखस्पर्शमारोहणेषु विल्स०।

पादचारेण=पैदल । विहरेत्=विहार करे । अग्रयायी=आगे-आगे जाता हुआ। स्तम्भितान्तर्जलौघः=अन्दर जल के प्रवाह को रोके हुए । भङ्गीभक्त्या= पौड़ियों के क्रम से। विरचितवपुः=बने हु ए शरीरवाला । मणितटारोहणाय= मणियोंवाली ढलान पर चढ़ने के लिए। सोपानत्वं कुरु=(एक लम्बी) सीढ़ी का काम करना (देना) ॥६२॥

भाषानुवादः--उस क्रीड़ा-पर्वत पर सांप का कंगन फेंक कर शिव जी द्वारा दिये गए हाथ का सहारा लिए हुए पार्वती यदि पैदल घूमे (तो) आग-आगे चलते हुए (तुम) जल-प्रवाह को भीतर ही रोक (तथा) अपने शरीर की पौड़ियों के क्रम में बना, मणियों की ढलानों पर चढ़ने के लिए सीढ़ी का काम देना ॥६२॥

व्याकरणम्--क्रीडाशैले=क्रीडायाः शैलः क्रीडाशैलः तस्मिन्। भुजगवलयम् =भुजग एव वलयः (कर्मधा०) तम्। हित्वा=√हा, (जु० प०, छोड़ना)+ त्वा (क्त्वा)। दत्तहस्ता=दत्तो हस्तः यस्यै सा (बहुव्री०) । पादचारेण= पादाभ्यां चारः (तृ० तत्पु०) तेन। विहरेत्=वि+√हृ (भ्वा० प०, हरना), विधिलिङ्, प्र० पु० एक०। अग्रयायी=अग्रे यातुं शीलमस्य इति, अग्र+√या, (अ० प०)+इन् (णिनिः) ताच्छील्ये । स्तम्भितान्तर्जलौघः=स्तम्भितः अन्तः जलस्य ओघः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) । स्तम्भित-√स्तम्भ् (भ्वा० आ०, रोकना)+त। भङ्गीभक्त्या=भङ्गीनां भक्त्या (रचनया) । विरचितवपुः= विरचितं वपः यस्य (ब० व्री०) । मणितटारोहणाय=मणीनां तटं मणितटं तत्र आरोहणाय। सोपानत्वम्=सोपानानां भावः; सोपान+त्व । कुरु=√कृ, (त. उभ., करना) लोट् म० पु० एक० ॥६२॥

विशेषः--क्रीडाशैले=कैलास, कनकाद्रि, मन्दर, गन्धमादन ये पर्वत देवताओं ने शिव जी की क्रीडा के लिए बनाए हैं। 'क्रीडाशैलः' के लिए उत्तरमेघ श्लोक १७ देखिए।

भुजगवलयम्=लिपटता हुआ सांप ही जिसका कंगन है। देखिए कुमा० V. ६६-'करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना' और न्यायमुक्तावली 'वलयीकृत-वासुकिः,...भवः'।

भुजगवलयं हित्वा दत्तहस्ता=मल्लि० ने यहाँ वाक्य की रचना इस प्रकार की है--'शंभुना भुजगवलयं हित्वा दत्तहस्ता (सती) गौरी पादचारेण च विचरेद्यदि

(तर्हि) । श्री शारदा-रञ्जन राय के अनुसार यह रचना दोषपूर्ण है, क्योंकि (I) कोई स्त्री अपने प्रेमी का हाथ नहीं छोड़ सकती जब तक कि कोई भय का कारण न हो; जब शिव जी ने अपने भुजग वलय को छोड़ दिया, तो क्या कारण है कि पार्वती शिव का हाथ न पकड़े । (II) फिर 'शम्भुना······हित्वा दत्तहस्ता गौरी·········विचरेत्' इस रचना में 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' नियमके अनुसार क्त्वान्त और मुख्य क्रिया का कर्त्ता एक ही होना चाहिए–यहां यह नियम भंग होता है, क्योंकि 'हित्वा' का कर्त्ता 'शम्भुना' है और 'विहरेत्' का कर्त्ता गौरी है । अतः उनके अनुसार पदों का अन्वय इस प्रकार होना चाहिए––'शम्भुना दत्तहस्ता' गौरी भुजगवलयं (हस्तं) हित्वा पादचारेण विचरेत् चेत्' । इस रचना में 'हित्वा' और 'विहरेत् ' की समानकर्त्तृकता का नियम का पालन हो जाता है । पुनः जब शिव जी सहायतार्थ अपना हाथ गौरी के आगे पसारेंगे, तो वह उसपर लपेटे हुए भुजग-वलय से डर कर ग्रहण न करेंगी। एवं वह पैदल चलने के लिए विवश होंगी । यदि राय की रचना ठीक मानी जाय, तो भुजग-वलय' का विग्रह 'भुजगः वलयः यस्य (बहुव्री०)' है जो लुप्त विशेष्य 'हस्तम्' का विशेषण होगा । वास्तव में राय को कर्तृ-भेद का भ्रम ही हुआ है; 'हित्वा' का 'दत्त' के साथ समान-कर्तृकता है ही और यही मल्लि० को विवक्षित भी है ।

विहरेत् = इसके स्थान पर 'विचरेत्' यह पाठान्तर है । 'विचरेत्' का अर्थ भ्रमण करे । 'विहरेत्' पाठ अच्छा प्रतीत होता है, क्योंकि इसका 'क्रीडाशैले' से सम्बन्ध है । यह पाठ असली प्रतीत होता है, क्योंकि पार्श्वा० में भी यह पाया जाता है ।

अग्रयायी =इसका पाठान्तर 'अग्रचारी' है। अर्थ दोनों के एक समान हैं । अधिक टीकाकार 'अग्रयायी' पाठ देते हैं ।

भङ्गीभक्त्या =सारो०तथा वल्लभ इसकी यह व्याख्या करते हैं–'तरङ्गविच्छित्या' कल्लोलाकारेण अर्थात् तरङ्गों के आकार में । देखिए–रघु० VI. ३ 'शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्संगमिवारुरोह' ।

मणितटारोहणाय =कैलास पर्वत अनमोल मणियों तथा स्फटिकों से बना हुआ समझा जाता है ।

सोपानत्वम् —देखिए–पूर्वमेघ श्लोक ५२ 'जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्' । और देखिए––रघु० VI ३ 'वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन

सोपानपथेन मञ्चम् । शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गो नगोत्सङ्गमिवारुरोह ।' 'सोपानमार्गे प्रकरोति शब्दम्' ।

इस श्लोक में 'अनुप्रास' तथा 'रूपक' अलंकार हैं ॥६२॥

तत्रावश्यं वलयकुलिशो[1]द्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।
ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे [2]घर्मलब्धस्य न स्या-
त्क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्[3]ताः ॥६३॥

अन्वयः—तत्र अवश्यम् सुरयुवतयः वलयकुलिशोद्घटनोद्गीर्णतोयम् त्वाम् यन्त्र-धारा-गृहत्वम् नेष्यन्ति । (हे) सखे ! यदि घर्म-लब्धस्य तव ताभ्यः मोक्षः न स्यात् (तर्हि) क्रीडालोलाः ताः श्रवण-परुषैः गर्जितैः भाययेः ॥६३॥

पदार्थः—तत्र=वहां (कैलास पर) । अवश्यम्=निश्चय से, सर्वथा । सुरयुवतयः=देवाङ्गनायें, देवों की स्त्रियाँ । वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं त्वां=कगनों की [पैनी] नोकों की टक्कर से जल उगलते हुए तुझको यन्त्रधारागृहत्वं नेष्यन्ति=यन्त्रों के द्वारा [प्रवाहित की गई] जल की धाराओं का घर [Shower-bath] बना देंगी । घर्म-लब्धस्य तव=गर्मी में प्राप्त हुए तेरा । ताभ्यः=उन (देव–स्त्रियों) से । मोक्षः=छुटकारा । न स्यात्=न हो । क्रीडालोलाः=क्रीडा में आसक्त (लगी) हुई । ताः=उन (देवांगनाओं) को । श्रवणपरुषैः=कानों को कठोर । गर्जितैः=गर्जनों से । भाययेः=डराना ॥ ६३॥

भाषानुवादः—वहां देवाङ्गनायें कंगनों की (पैनी) नोकों की टक्कर से पानी उगलनेवाले तुम को अवश्य ही जल के फव्वारे के रूप में परिणत कर देंगी । हे मित्र ! यदि गर्मी में प्राप्त हुए तुम्हारा उनसे छुटकारा न हो (तो) खेल में लगी हुई उन्हें कानों को कठोर लगनेवाले गर्जनों से डरा देना ॥६३॥

व्याकरणम्—तत्र=अव्यय । अवश्यम्=अव्यय । सुरयुवतयः=सुराणां युवतयः (ष० त०) वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्ण०=वलयानां कुलिशानि तैः यानि उद्घट्टनानि तैः उद्गीर्णं तोयं येन तं (त्वाम्) (ब० व्री०) उद्गीर्ण उत्+√गॄ (तु० प०)+न (क्त) यन्त्रधारा-गृहत्वम्=यन्त्रेषु धारा यन्त्रधारास्तासां गृहं तस्य भावः त्व प्रत्यय । नेष्यन्ति=√नी, (भ्वा० उभ०, ले जाना), लृट्, प्र०

१–जनितसलिलोद्गारमन्तः प्रवेशम् । २–शर्म । ३–भीषयेः, भापयेः ।

पु० बहु० । सखे=सखि का सम्बो० ए०। धर्मलब्धस्य=धर्मे लब्धस्य (स० तत्पु०)। तव=युष्मद् का ष० ए० । ताभ्यः=तद् (स्त्री०) प० बहु० । मोक्षः=√मुच् (तु० प०, छोड़ना)+सन्+अ। स्यात्=√अस् [अ० प०, होना] विधिलिङ् प्र० पु० एक० । क्रीडालोलाः=क्रीडायां लोलाः [स० तत्पु०] । ताः=तद् (स्त्री०) द्वि०बहु०। श्रवणपरुषैः=श्रवणयोः परुषैः। गर्जितैः=√गर्ज् (भ्वा०प०) +त (क्त), भावे क्तः । भाययेः=√भी, (जुहो० प०, डरना)+णिच्, विधिलिङ्, मध्य० पु० एक० । इसके सम्बन्ध में अधिक टिप्पणी 'विशेष' स्तम्भ में देखिए ॥६३॥

विशेषः--वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्ण०=मल्लि० ने कुलिश का अर्थ कोटि, अग्रभाग व नोक किया है । इस समास का विग्रह इस प्रकार भी हो सकता है--वलयाः एव कुलिशा वज्राणि तत्कार्यकरणत्वात् । सारो०, म० सिं० तथा सुमति० कुलिशवलय० पाठ देकर यों व्याख्या करते हैं--कुलिशसंपृक्तानि=हीरकविद्धानि वलयानि तेषाम् उद्घट्टनम् तेनोद्गीर्णं वान्तं तोयं येन।

यन्त्रधारागृहत्वम्=मल्लि० इसका 'यन्त्रेषु धाराः यन्त्रधाराः' इस प्रकार अर्थ करता है, परन्तु इसे तृतीया तत्पु० समास समझना अच्छा है, अर्थात् 'यन्त्रैः धाराः यन्त्रधाराः अथवा यन्त्रप्रक्षिप्ता धारा यन्त्रधाराः (इस प्रकार मध्यमपदलोपी समास भी किया जा सकता है) तासां गृहं तस्य भावः तत्त्वम्' । धारागृह वह स्नानागार कहलाता है, जिसमें कृत्रिम साधनों से पानी को धाराओं के रूप में गिराए जाने का प्रबन्ध रहता है । यहां मेघ को 'यन्त्रधारागृह' बताया गया है । सारो० में 'यन्त्रधारागृहम्' पद पर यों लिखा गया है-"यन्त्राणि अनेक-सञ्चार-चतुरान्तर्विवरावभासित-शालभञ्जिका-प्रभृतीनि तत्करतलाद्यवयव-प्रवृत्त-वारिधाराभिः उपलक्षितं ग्रीष्मोष्म-निषेधकं धनिनां धाम यन्त्रगृहम् ।" म० सिं० की व्याख्या यह है--'एकान्तस्थाने ग्रीष्मताप-निवारणाय काष्ठपाषाणेन पुत्तलि-कादि-सम्बन्धेन जल-निर्झरणं मेघजलकण-पातनार्थं स्थानं सुखिनां गृहे यन्त्रधारागृहं कथ्यते ।'

नेष्यन्ति=√नी द्विकर्मक है । (i) त्वाम्-प्रधान कर्म है और (ii) यन्त्रधारागृहत्वम्-अप्रधान कर्म है ।

धर्मलब्धस्य=ग्रीष्म में जल से स्नान करना बहुत रुचिकर होता है और भारत के ग्रीष्म प्रधान नगरों में लोग पानी को छोड़ना ही नहीं चाहते ।

ठीक यही बात सुरसुन्दरियों की भी है। वे मेघ को देखकर यथा-तथा उससे फव्वारे का काम लेतीं हैं और यही चाहतीं हैं कि गरमी में वे उनसे दूर न हों।

भाययेः =इसका पाठान्तर 'भीषयेः' है जो कि पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध है। √भी का णिजन्त रूप भाययति होता है, परन्तु यदि भय कर्त्ता से जनित हो तो 'भीस्म्योर्हेतुभये' (१।३।६५) से नित्य आत्मनेपद होकर षुक् अथवा आत्व के आगम से 'भीषयते' अथवा 'भापयते' ये दो रूप बनते हैं। प्रकृत में भय का कारण कर्त्ता (मेघ) नहीं है, प्रत्युत करण (गर्जितैः) है, अतः 'भाययेः' यही प्रयोग ठीक है। इसी लिए मल्लि० ने कहा है—'अत्र हेतु-भयाभावात् आत्मनेपदं षुगागमश्च न' इति। सुमति०, सारो० तथा म० सिं० का दिया हुआ 'भापयेः' पाठ भी अशुद्ध है, क्योंकि यहां परस्मैपद हो ही नहीं सकता। यही बात 'स्मी' धातु के सम्बन्ध में भी घटती है, परन्तु भट्टोजो दीक्षित अपनी व्याकरण-सिद्धान्त-कौमुदी में—कथं तर्हि 'विस्मापयन् विस्मितमात्मवृत्तौ' ? इस कालिदास के रघुवंश में आये प्रयोग को शुद्ध बनाने का जो प्रयत्न करते हैं, तदनुसार 'भीषयेः' भी यथा तथा शुद्ध हो सकता है ॥६३॥

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं[1] क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य[2] ।
धुन्वन्क[3]ल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानि स्ववातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ! ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥६४॥

अन्वयः—(हे) जलद ! हेमाम्भोज-प्रसवि मानसस्य सलिलम् आददानः ऐरावतस्य क्षण-मुख-पट-प्रीतिम् कुर्वन् (तथा) कल्प-द्रुम-किसलयानि अंशुकानि वातैः धुन्वन् (त्वम्) नानाचेष्टैः ललितैः तं नगेन्द्रम् कामम् निर्विशेः ॥६४॥

पदार्थः—जलद =बादल। हेमाम्भोजप्रसवि =सुनहरे कमलों को पैदा करने वाले। मानसस्य सलिलम् =मानसरोवर के जल को। आददानः =ग्रहण करता हुआ। ऐरावतस्य = ऐरावत हाथी को। क्षणमुखपटप्रीतिं कुर्वन् =क्षण भर के लिए मुख को ढकनेवाले वस्त्र का आनन्द देते हुए। मल्लि० ने क्षण का

१–कामात्, विल्ल०। २–ऐरावणस्य, का० पा० आदि। ३–धुन्वन्वातैः सजलपृषतैः (०नघनैः) कल्पवृक्षांशुकानि च्छायाभिन्नस्फटिकविशदं निर्विशेः पर्वतं तम् विल्स०।

अर्थ 'जलादानकाले' किया है। कल्पद्रुमकिसलयानि=कल्पवृक्ष की कोंपलों को। अंशुकानि=जो कि महीन (सूक्ष्म) कपड़े हैं; वस्त्ररूपैः स्ववातैः=अपनी हवा से। धुन्वन्=हिलाते हुये। नानाचेष्टैः=अनेक प्रकार की चेष्टाओंवाले। ललितैः= विलासों (क्रीडाओं) से। तं नगेन्द्रम्=उस पर्वतराज (कैलास) का। निर्विशेः= आनन्द लेना ॥६४॥

भाषानुवादः—हे मेघ! सुनहरे कमलों को पैदा करनेवाले मानसरोवर के जल को ग्रहण करते हुए, ऐरावत को क्षण भर के लिए मुंह ढकनेवाले वस्त्र का आनन्द देते हुये तथा कल्पवृक्ष के नये पत्तेरूपी सूक्ष्म (महीन) वस्त्रों को अपनी हवा से हिलाते हुये (तुम) नाना प्रकार की चेष्टाओं–भरे विलासों से स्वेच्छानुसार उस पर्वतराज (कैलास) का आनन्द लूटना ॥६४॥

व्याकरणम्—जलद=जलं ददातीति जलदः। सम्बो० एक० व०। हेमाम्भोजप्रसवि=हेम्नः अम्भोजानि हेमाम्भोजानि (ष० त०) अथवा हेमनिर्मितानि अम्भोजानि (मध्यमपदलोपी स०)हेमाम्भोजानां प्रसवि (ष० तत्पु०) प्रसूते इति प्रसवि (नपुं) । सारा समास 'सलिलम्' का विशेषण है। आददानः=आ+√ दा, (जु० उभ०, देना)+आन (शानच्) 'आङो दोऽनास्य विहरणे' इत्यात्मनेपदम्। क्षणमुखपटप्रीतिम्=क्षणे मुखे पटेन (वस्त्रेण) या प्रीतिस्ताम्। कुर्वन्= √कृ (त० उभ०)+अत् (शत्रन्त) प्र० एक०। कल्पद्रुमकिसलयानि= कल्पद्रुमाणां किसलयानि (षष्ठी तत्पु०) तान्येवांशुकानि (कर्मधा०)। धुन्वन्=√धु, (स्वा० प०, हिलना)+अत् (शत्रन्त), प्र० एक०। नानाचेष्टैः =नाना चेष्टा येषु तैः(ललितैः), ब० व्री०। नगेन्द्रम्=न गच्छतीति, नञ्+√ गम्+डः कर्त्तरि, नगानाम् इन्द्रम्। कामम्–अव्यय। निर्विशेः=निर्+√विश्, (भ्वा० प०, प्रविष्ट होना)+यास्, विधिलिङ् म० पु० एक० ॥६४॥

विशेषः—जलद=कवि ने कैलास पर्वत को मेघ का सहज मित्र समझा है। मेघ–पर्वत की, कमल–सूर्य की, समुद्र–चन्द्रमा की, मोर मेघ की, वायु–अग्नि की मित्रता स्वाभाविक ही है। देखिए पूर्वमेघ श्लोक १२ 'आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिंग्य शैलम्।'

मानसस्य=देखिए पूर्वमेघ श्लोक का 'विशेष' भाग।

क्षणमुखपटप्रीतिम्=यहां 'क्षण' का अर्थ 'क्षणं यावत्' (क्षणभर के लिए)। सारो० ने इस समास की यह व्याख्या की है—'मुखपटः करिणां वदनाच्छादकं वासः।

तेन प्रीतिं तुष्टिमुत्पादयन्।' मल्लि० ने इसका अर्थ 'जलादानकाले' (जल लेने के समय) किया है।

कामम्=यथेष्टम् । इसे 'कुर्वन्' के साथ भी जोड़ा जा सकता है; इस अवस्था में इसका अर्थ 'इच्छानुसार' है।

कल्पद्रुम०=कल्प-वृक्ष। 'कल्पः संकल्पितोऽर्थः तस्य द्रुमः वृक्षः।' यहां जन्य-जनक सम्बन्ध में षष्ठी हुई। समास का विग्रह है 'कल्पद्रुमाणां किसलियानि।' यह वह वृक्ष है जो सब प्रकार की अभिलाषाओं को पूरा करता है। कल्प-वृक्षों की संख्या पांच है—'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥' देखिए—अभि० शा० VII. १२—'प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने।' और देखिए—उत्तरमेघ श्लोक ५ 'आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतम्' तथा श्लोक १२. 'एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः।'

ललितैः—क्रीड़ाओं (विलासों) से या आमोदों से। 'ललितैः' यहां विशेष्य है यद्यपि यह प्रायः विशेषण रहता है।

इस श्लोक के तीसरे पाद में 'रूपक' अलंकार है॥६४॥

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना[1]
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥६५॥

अन्वयः—(हे) कामचारिन्! प्रणयिनः इव तस्य उत्सङ्गे (कामिनीम् इव) स्रस्त-गङ्गा-दुकूलाम् अलकाम् दृष्ट्वा त्वम् पुनः न ज्ञास्यसे इति न; उच्चैर्विमाना या (अलका) वः काले सलिलोद्गारम् अभ्रवृन्दम् कामिनी मुक्ता-जालग्रथितम् अलकम् इव वहति॥६५॥

पदार्थः—कामचारिन्=हे स्वच्छन्द-चारी। प्रणयिनः इव=प्रियतम के जैसे। तस्य=उस (कैलास) के। उत्सङ्गे=(१) उपरिभाग में, (२) गोद में। स्रस्तगङ्गादुकूलाम्=(१) जिसकी श्वेत साड़ी सो गंगा खिसक पड़ी है ऐसो (अलका)। (२) जिसकी गंगा जैसी (सफेद) साड़ी गिर पड़ी है (कामिनो)। अलकां दृष्ट्वा=अलका पुरी को देखकर। त्वम् पुनः=तू फिर। न ज्ञास्यसे

१—उच्चैर्विमानैः। विल्स०, सारो०, म० सिं०, स० ती०।

इति न=नहीं जान लेगा यह बात नहीं (अपि तु जान ही लेगा)। उच्चैर्विमाना=(१) ऊंचे-ऊंचे सात-मंजल भवनोंवाली, (२) मान से रहित। या=जो (अलका)। वः काले=तुम्हारे समय में, अर्थात् मेघों के आगमन काल में (वर्षा काल में)। सलिलोद्गारम्=पानी (की धारा) छोड़नेवाले। अभ्रवृन्दम्=बादलों के समूह को। कामिनी=स्त्री। मुक्ताजालग्रथितम्=जिसमें मोतियों कि लड़ियां गुथी हुई हैं, ऐसे। अलकम् इव=बालों को जैसे। वहति=धारण करती है ॥६५॥

भाषानुवादः--हे स्वच्छन्द-चारी ! जिस तरह कोई कामिनी, जिसकी गङ्गा सो (सफेद) रेशमी साड़ी खिसक गई है--प्रिय के उत्सङ्ग (गोद) में स्थित होती है, उसी तरह उस (कैलास) के उत्सङ्ग (ऊपर के भाग) में अलका को देखकर-जिससे श्वेत-वस्त्र-सी गङ्गा गिरी हुई है—तुम (उसे) नहीं जान सकोगे, सो नहीं (अर्थात् जान ही लोगे)—जो (अलका) ऊँचे विमानों (सात-मञ्जिले भवनों) से युक्त हुई तुम्हारे समय में (वर्षा काल में) पानी (की बूंदों) उगलते हुए मेघ-समूह को यों धारण करती है जिस तरह विमान=मान-से रहित (प्रणय-कोप त्यागते हुए) कामिनी (अपने) ऊपर मोतियों के समह से गूंथे हुए बालों को धारण करती है ।।६५।।

व्याकरणम्--काम-चारिन्=कामेन (स्वेच्छया) चरतीति, √चर् (भ्वा०प०) कर्त्रर्थ+इन् (णिनि) कृदन्त । प्रणयिनः=प्रणय+इन्=प्रणयिन् का ष० एक०। उत्सङ्गे=उद्+√सञ्ज्+घञ् भावे उत्सङ्ग तस्मिन्। स्रस्तगङ्गादुकूलाम्=उपमित-समास। (अलका-पक्ष में) गङ्गा दुकूलम् इव; (कामिनी-पक्षमें) गङ्गा इव दुकूलम् स्रस्तं गङ्गादुकूलं यस्यास्तां तथोक्ताम् (बहुव्री०) स्रस्त=√स्रंस्, (भ्वा० आ०) (गिरना) +त (क्त)। दृष्ट्वा=√दृश्, (भ्वा०प०) (देखना) +त्वा (क्त्वा)। ज्ञास्यसे=√ज्ञा, (क्र्या०उभ०) (जानना) 'अनुपसर्गात्ज्ञः' इति 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम्' लृट्, म० पु० एक०। उच्चैर्विमाना=(१) (अलका-पक्ष में) उच्चैः उन्नतानि विमानानि यस्यां सा, (२), (कामिनी--पक्ष में) विगतो मानो यस्याः सा (बहुव्री०) और उच्चैः 'वहति' क्रिया का विशेषण। सलिलोद्गारम्=सलिलमुद्गिरतीति तम्। अभ्रवृन्दम्=अभ्राणां (मेघानां) वृन्दम् (समूहः)-ष० तत्पु० यह 'वहति' का कर्म है। मुक्ताजालग्रथितम्=मुक्तानां जालः ग्रथितम् (तत्पु०) ग्रथित=√

ग्रन्थ्, (क्र्या० प०)+त (क्त)। अलकम्=जातावेकवचनम्। यहां पर एकव० वहुव० के स्थान पर प्रयुक्त है। वहति=√वह्, (भ्वा० प०) (उठाना, ले जाना, धारण करना) प्र० पु० एक० ॥६५॥

विशेषः—उत्सङ्ग—इसके यहां दो अर्थ हैं (१) ऊर्ध्वभाग और (२) ऊरु (जाँघ) 'उत्सङ्गो मुक्तसंयोगे सक्थन्यूर्ध्वतलेऽपि वा' इति मालतीमालायाम् (मल्लि०)। पहला अर्थ–ऊर्ध्व-भाग पर्वत के पक्ष में और दूसरा अर्थ-ऊरु (जाँघ) कामिनी-पक्ष में लिया गया है। देखिए–उत्तरमेघ श्लोक २६ 'उत्सङ्गे वा मलिन-वसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्'।

उच्चैर्विमाना—विल्सन (Wilson), सारो० म० सिं० आदि ने 'उच्चैर्वि-मानैः' पाठ दिया है किन्तु 'विमाना' वाला पाठ ठीक है, क्योंकि कवि का अभिप्राय कामिनी से साम्य बताना है और वह 'विमाना' से ही ठीक बैठता है। विमान के लिए देखिए–उत्तरमेघ श्लोक ८ 'नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमिः'।

न त्वं दृष्ट्वा.....ज्ञास्यसे–यहां दो नञों से निश्चयात्मक बोध होता है—अर्थात् अवश्य ही जान जायगा। देखिए 'स्मृति-निश्चयसिद्धार्थेषु नञ्-द्वयप्रयोगः' इति मल्लि०।

मुक्ताजालग्रथितम्—मोतियों की माला (लड़ी) से गूँथा (गुम्फित) हुआ। देखिए उत्तरमेघ श्लोक ११ 'मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः।

इस श्लोक में कैलास की प्रणयी (प्रेमी) से, अलका की कामिनी से, गङ्गा की श्वेत वस्त्र से, सलिल की मोतियों से और अभ्र-वृन्द की अलकों से, समता दिखाई गई है, इसलिए यहां समस्त–वस्तु–विषयक उपमा है और वह उत्सङ्ग, गंगादुकूल और विमान में श्लेष होने से श्लेषानुप्राणित है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि कैलास 'अनुकूल' नायक है और अलका 'स्वाधीनपतिका' नायिका है। एक ही स्त्री पर अनुरक्त पुरुष को 'अनुकूल नायक' और स्वाधीन पतिवाली स्त्री को 'स्वाधीनपतिका' नायिका कहते हैं ॥६५॥

———

परिशिष्ट—क

शब्द-संक्षेप सङ्केत

अभि० शा०—अभिज्ञान शाकुन्तलम् ।
उत्तर०—उत्तररामचरितम् ।
ऋतु०—ऋतुसंहारः ।
का० बा०—काशीनाथ बापू पाठक ।
कुमार०—कुमारसंभवम् ।
पार्श्वा०—पार्श्वाभ्युदयः ।
मल्लि०—मल्लिनाथः ।
म० सिं०—महिमसिंहगणी ।
माल०—मालतीमाधवम् ।
मालवि०—मालविकाग्निमित्रम् ।
मुद्रा०—मुद्राराक्षसम् ।
रघु०—रघुवंशम् ।
व०, वल्ल०—वल्लभ ।
विक्र०, विक्रमो०—विक्रमोर्वशीयम् ।
वि० विल्स०—विल्सन (Wilson)।
शिशु०—शिशुपालवधम् ।
स० ती०—सरस्वती तीर्थः ।
सारो० सारोद्धा०—सारोद्धारिणी ।
सु० वि०—सुमतिविजयः ।

—०—

परिशिष्ट—ख

पूर्वमेघ में आये हुए भौगोलिक शब्द तथा उनके वर्तमान पर्याय

अवन्ति (श्लो० ३०)—पश्चिमी मालवा का भाग; राजधानी उज्जयिनी ।
आम्रकूट (श्लो० १७)—मध्यभारत रीवाँ में अमरकण्टक (३४९८ फी०) ।
उज्जयिनी (श्लो० २७)—उज्जैन (मालवा में) ।
कनखल (श्लो० ५२)—हरिद्वार के पास का तीर्थस्थान (उ० प्र०) ।
कुरुक्षेत्र (श्लोक ५०, कौरवं क्षेत्रम्)—पंजाब में थानेश्वर के पास।
कैलास (श्लो० ११)—तिब्बत में मानसरोवर के पश्चिमोत्तर की तरफ हिमालय की २०२२६ फी० ऊँची चोटी।
क्रौञ्चरन्ध्र (श्लो० ५९)—इस श्लोक का विशेष भाग देखिए।
गम्भीरा (श्लोक ४२)—उज्जैन जिले की एक नदी जो सिप्रा में जा मिलती है।

गन्धवती (श्लो० ३५)--एक छोटी नदी जो वर्तमान गन्धर्वती-घाट के समीप सिप्रा में मिलती है।

चर्मण्वती (श्लो० ४७)--मालवा में चम्बल नदी को कहते हैं, जो यमुना की सहायक नदी है।

जाह्नवी (श्लो० ५२)—गङ्गा का नाम।

दशपुर (श्लो० ४९)--मन्दसौर (मध्यभारत)।

दशार्ण (श्लो० २३)—पूरवी मालवा राजधानी विदिशा।

देवगिरि (श्लो० ४४)—देवगढ़ (मन्दसौर और उज्जयिनी के मध्य)।

निर्विन्ध्या (श्लो० २८)—विन्ध्य पर्वत से निकलने वाली सभवतः पार्वती नदी (मालवा में)।

नीचैर्गिरि (श्लो० २५)—भिलसा के पास एक पर्वत (संभवतः उदयगिरि)।

ब्रह्मावर्त (श्लो० ५०)—दिल्ली के पूर्वोत्तर-वर्त्ती प्रदेश।

माल (श्लो० १६)—माल्डा रतनपुर के पास (मध्यप्रदेश)।

मानस (श्लो० १७)—मानसरोवर झील (तिब्बत में)।

यमुना (श्लो० ५३) जमुना नदी।

रेवा (श्लो० १९)—नर्मदा नदी।

रामगिरि (श्लो० १)—रामगढ़ पर्वत (मध्यप्रदेश)।

वननदी (श्लो० २६)—सभवतः वेस नदी (मालवा में) जो भिलसा के निकट बेतवा में मिल जाती है।

विदिशा (श्लो० २४)—भिलसा या बिसनगर (पूर्वी मालवा में)।

विन्ध्य (श्लो० १९)—विन्ध्याचल पर्वत।

वेत्रवती (श्लो० २४)--बेतवा नदी (मालवा में)।

सिप्रा (श्लो० ३१)—उज्जयिनी से होकर मालवा में बहने वाली नदी।

सिन्धु (श्लो० २९)—कालीसिन्धु (चम्बल की सहायक नदी)।

सरस्वती (श्लो० ५१)—एक नदी जो अब लुप्त है (देखिए इसी श्लोक का विशेष भाग)।

श्रीचरणन्यास (श्लो० ५७)—देखिए इसी श्लोक का विशेष भाग।

हिमालय (श्लो० ५४)—सुप्रसिद्ध हिमालय पर्वत।

——०——